

राजस्थान भाषा पुरातत्व

१. प्राग् ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि, आदिम जातियाँ—भील, द्रविड़, आग्नेय, मंगोल उनकी भाषा-प्रवृत्तियाँ और संस्कृति ।

अर्थमय जगत की अभिव्यक्ति के लिये भाषा एक महान साधन है । इसके प्राचीनतम और श्रेष्ठतम प्रतीक ध्वनि द्वारा संघटित वे रूप हैं जो मानव विकास के साथ-साथ विकसित होते चले आ रहे हैं और जो समय समय पर यत्र तत्र विकीर्ण रूप में मिलते रहते हैं । भाषा और मनुष्य का विकास सदा से अन्योन्याश्रित रहा है । ज्यों ज्यों मनुष्य जगत के अर्थ की गहनता और विस्तार में प्रवेश करता गया त्यों त्यों उसकी अभिव्यक्ति के लिये उसका यह भाषा रूपी साधन अधिक सबल और सक्षम होता गया । इसी प्रकार मानव ने भी भाषा के माध्यम से जगत के गूढ़तम अर्थ को समझकर अपना विकास किया । भाषा के द्वारा मनुष्य ने जीवन के गंभीर रहस्यों को खोजा, उसके तत्वों पर चिन्तन-मनन किया, और उन्हें जीवन के व्यवहार योग्य बनाने के लिये भावों और विचारों की सृष्टि में स्थापित किया ।

सृष्टि और संस्कृति के विकास के साथ ज्यों ज्यों भाषा में विकास हुआ, वह अधिकाधिक व्यवहार योग्य होती गई, उसके रूप में परिवर्तन होता गया । ध्वनि और अर्थ में अधिकाधिक साम्य होता गया । भाषा में अर्थ की स्थिति स्थापना के हेतु विविधता और रूपात्मकता बढ़ी । पृथ्वी पर अनेक जातियों की सृष्टि हुई, उनका विकास तथा प्रसार हुआ । उनके विकास और ह्रास के साथ उनकी भाषा का भी विकास और ह्रास होता गया । अनेक जातियाँ कहीं कहीं अपनी भाषा के अवशेषों को सुरक्षित भी कर गईं । इनमें उच्चारण ध्वनि सबसे प्राचीन और परम्परागत अवशेष रहा और उसके पश्चात् रूप । ध्वनि और रूप में भाषा के विकास का इतिहास छिपा है । इस इतिहास में भाषा और उसको बोलने वाली जाति के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि अनेक स्थितियों की खोज की जा सकती है । भाषा के इतिहास से मानव जाति के इतिहास का भी उद्घाटन होता है । भाषा की स्थिति—उसका उद्गम, विकास, ह्रास आदि उसके बोलनेवालों पर निर्भर करती है । बोलनेवालों की उच्चारण और रचना—सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा उन पर प्राकृतिक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि प्रभावों के कारण भाषा की शक्ति न्यूनाधिक होती रहती है । इनके द्वारा भाषा के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि को सक्रिय पोषण मिलता है । ये ही प्रवृत्तियाँ जब किसी भाषा की अपनी हो जाती हैं तो भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सामने आ जाता है । अतः हमें यह खोजना है कि वे कौन सी भाषा प्रवृत्तियाँ हैं जो राजस्थान की अपनी हैं ।

भारत के जिस प्रदेश को हम आज राजस्थान कहते हैं; वह भाषा की दृष्टि से कोई पूर्ण इकाई नहीं हो सकती । राजनैतिक सीमाएँ भाषा की सीमाओं से बहुत कम मेल खाती हैं । एक ही भाषा की सीमा में दो राजनैतिक सीमाएँ देखी जाती हैं । भाषा की सीमाएँ उसके बोलने वाले लोगों के ऊपर निर्भर करती

हैं। इस दृष्टि से राजस्थान भाषा पुरातत्त्व की खोज यहां पर रहने वाली आदिम जाति के आधार पर ही की जा सकती है। यहां के आदिम निवासियों की भाषा, जीवन, व्यवहार आदि; प्राचीन निवास स्थानों के नाम तथा अन्य अनेक प्रकार के उत्खनित प्रागैतिहासिक अवशेष राजस्थान भाषा पुरातत्त्व की ओर संकेत करते हैं। आधुनिक बोलियों तक में ऐसे तत्व मिलते हैं जो यहां की आदिम तथा अन्य प्राचीन जातियों के भाषा-अवशेष कहे जा सकते हैं और जो राजस्थानी के अक्षुण्ण आधार हैं। राजस्थानी ध्वनिसंहति, रूप-योजना, भावामिव्यक्ति आदि में प्राचीन तत्व वर्तमान हैं; और इसकी खोज से राजस्थानी ही नहीं; भारत में बोली जाने वाली अन्य भाषाओं और उनको बोलने वाली जातियों के इतिहास की रहस्यमय पृष्ठभूमि का उद्घाटन हो सकता है।^१

राजस्थान की प्राग्-इतिहासिक भूमि पर भी मानव विचरता था, परन्तु यह कहने के लिये हमें प्रमाणों की आवश्यकता है कि इस भूमि पर किसी आदि मानव का उद्भव हुआ हो। जो अवशेष या अन्य सामग्री अब तक उपलब्ध है उससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान भी प्राग्-ऐतिहासिक युग से अनेक जातियों के उत्थान-पतन की भूमि रहा है। आज से कई हजार वर्ष पूर्व राजस्थान में अर्बल पर्वत मालाओं से विशाल समुद्र स्पर्श करता था,^२ जिसके अवशेष अब पर्वत श्रेणी में विद्यमान हैं। दक्षिण राजस्थान तथा बीकानेर का एक भाग आज भी 'बागड़' कहा जाता है, जिसका अर्थ समुद्रतट की कछार भूमि से होता है। ऋग्वेद की रचना के समय राजस्थान का बहुत बड़ा भाग समुद्र में निमग्न था और यहीं पर सरस्वती नदी हिमालय से निकल कर समुद्र में मिलती थी।^३ यह समुद्र पंजाब के पूर्व से लेकर गंगा के मैदान में लहराता था। इसका उल्लेख ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। आधुनिक भूतत्त्व अनुवीक्षण से भी इस कथन की पुष्टि होती है कि तृतीय भूस्तर युग (Tertiary Era) में आधुनिक राजस्थान में और मध्य-तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Miosene Epoch) में गंगा के मैदान में समुद्र लहराता था। भूतत्त्व शास्त्री प्रमाणों से यह भी स्पष्ट है कि भारत में मध्य तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Miosene Epoch) और प्रस्तरो-दक्त उत्थान युग (Paleosene Epoch) के समय मानव वर्तमान था।^४ सम्भव है यह मानव राजस्थान का भील अथवा उसी का कोई आदि पुरुष रहा है, जो इसी समुद्र के तट पर विचरता हुआ पूर्व में, और फिर दक्षिण में बढ़ा और वहां से पूर्वी द्वीपों तक चला गया। जहां आज हिन्दमहासागर लहराता है। वहां सिक्तप्रस्तरोदक्त उत्थान युग (Permian Epoch) में एक हिन्द महासागरीय (Indo Oceanic) महाद्वीप था। दक्षिण अफ्रीका और भारत। मिसलेन युग (Mislane Epoch) के अन्त तक एक ही भूमि तट से

1. We have thus the Primitive-Negreto tribes, probably the most ancient people to make India their homes. . . . Then these were followed by Austric tribes from Indo-China, and these in their turn by Dravidians from the west. The Aryans next followed and from the North-East and North came Tibeto-Chinese tribes." S. K. Chatterji—Indo—Aryan and Hindi P. 2.

2. Avinash Chandra—Rigvedic India P. 7.

३. वही पृ० ७

४. वही पृ० ५५६—५७

जुड़े थे और यह महाद्वीप भी इस युग के उत्तरकाल तक मलयन (आधुनिक मलय आदि प्रदेश) से संबद्ध था।^५ मलयनलोग जो पूर्वी द्वीपों में जाकर बसे उन्हें आज पोलिनेशियन भाषा समूह में रखा जाता है। इसके साथ मलयन लोगों को मिलाने से यह पूरा समूह अब मलय-पोलिनेशियन-भाषा-समूह कहा जाने लगा है। राजस्थान भाषा पुरातत्व की खोज में इस समूह की भाषा के प्राचीन और मूल तत्त्वों का अध्ययन भी अपेक्षित होगा। इन द्वीपों में एक अति प्राचीन जाति है जिसको काकेशियस जाति कहा जाता है जो अति प्राचीन काल में ही यहां आकर जम चुकी थी। इस जाति और भील जाति में कुछ ऐसी समानताएँ लक्षित होती हैं जो इनके प्राचीन सम्बन्ध की ओर संकेत करती हैं। इनके रीति-रिवाज और भाषा-प्रवृत्तियों की समानता इनके हजारों वर्षों के प्राचीन सम्बन्ध की द्योतक है।^६ भीलों के समान ही उनकी साधारण वेश-भूषा होती है जो उनका अधोभाग ढकने के लिये पर्याप्त होती है—कपड़े या पत्तों की। विशेष अवसर या पर्व के समय स्त्रियां कंधों को ढकती हैं और पुरुष वृक्ष की छाल का कपड़े जैसा बनाकर पहनते हैं। यह कपड़ा 'टप' (Tapa) कहलाता है। यह 'टप' शब्द भीली-राजस्थानी से मिलता-जुलता और लगभग समा-

5. "India, South-Africa and Australia were connected by an Indo-Oceanic Continent in the Permian epoch, and the two former countries remained connected (with at the utmost only short interruption) up to the end of the Mislane Period. During the later part of the time this land was also connected with Malyan."—Quarterly Journal of the Geological Society vol, XXXI P. 540.
6. "Joseph Deniper declares the Polynesians a separate ethnic group of Indo-Pacific area, and in this view he is followed by A. K. Keane, who suggests that they are a branch of Caucasic division of mankind who possibly migrated in the Neolithic period from Asiatic mainlands. Of the migration itself no doubt is now left, but the first entrance of the Polynesians must have been an event so remote that neither by traditions nor otherwise can it be even approximately fixed. The journey of these Caucasians would naturally be in stages. The earliest halting place was probably Malaya Archipelago, where a few of their kin linger in Mantavo Islands on the west coast of Sumatra. Thence at a date within historic times a migration eastward took place. The absence of Sanskrit roots in the Polynesian languages appears to indicate that this migration was in pre-Sanskritic times. The traditions of many of the Polynesian peoples tend to make Savaii, the largest of the Samoan Islands, their anecstral home in the East Pacific and linguistic and other evidences go to support the theory that the first Polynesian Settlement in the East Pacific was in Samoa, and that thence the various members of the race made their way in all directions. Most likely Samoa was the Island occupied by them."

Encyclopaedia Britannica Vol. II P, 35.

नार्थी है। आधुनिक 'टप' पत्तों का बना हुआ छाते के आकार का होता है, जो धूप से बचने के लिये काम में आता है। आजकल राजस्थानी में 'टप' गाड़ी या तांगे के ऊपर के आच्छादन को भी कहते हैं। इधर भाबुआ के भीलों में 'टप' शब्द का प्रयोग अधोवस्त्र के लिये ही होता है। भीलों के समान ही इन लोगों में शरीर पर गोदने की प्रथा है। सामाजिक व्यवस्था में भी एक प्रकार की समानता देखी जाती है। इसमें परस्पर वर्ग और श्रेणी में आदर सम्मान की भावना बड़ी तीव्र है। उच्च श्रेणी या मुखियों के आदर के लिये भाषा में विशेष प्रयोग होते हैं; जैसे—

'आना' के अर्थ में—

१. सामान्य व्यक्ति के लिये—सउ (Sau)
२. आदरणीय या बड़े के लिये—मलिउ माइ (Maliu mai)
३. पदस्थ मुखिया के लिये—सु सु माइ (Su Su Mai)
४. राजपरिवार के व्यक्ति के लिये—अफिमो माइ (Afio Mai)

इसी प्रकार मुखिया तथा अन्य आदरणीय व्यक्ति के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिये सर्वनाम में द्विवचन का प्रयोग होता है। राजस्थानी में 'आपां' सर्वनाम इसी प्रकार का है। क्रियाओं में भी 'आ', आव, 'आवो', 'पधारो', 'पधारवा में आवे' में वर्ग और श्रेणी का भाव निहित है। राजस्थानी के मूल में यह भील संस्कृति की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। अन्य किसी भारतीय भाषा में यह प्रभाव नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार राजस्थानी सर्वनामों में 'थू', 'थां', 'थें' और 'आप' (आपां) के भीतर भी वही प्रवृत्ति है। हिन्दी में जो आदरवाचक का प्रयोग देख पड़ता है वह राजस्थानी का ही प्रभाव है। मुगल सभ्यता (विशेष कर दरबारी सभ्यता) राजपूत सभ्यता का ही विकसित रूप है। इस प्रकार राजपूत सभ्यता का प्रभाव मुगल सभ्यता के द्वारा हिन्दी पर पड़ा है। मराठी में 'आप' का प्रभाव अब भी द्विवचन में होता है 'आपत्या माणस'।

उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भी यह समानता देखी जाती है। राजस्थानी में 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण होता है। यह भीली की एक विशेषता है। बोलियों में यह 'ह' अति अल्प सुनाई पड़ता है अथवा कहीं लुप्त भी हो जाता है, कभी कभी उसका स्थान कोई स्वर ले लेता है; जैसे—

सामू	=	हाऊ
सांस	=	हाए
देवीसींग	=	देवी-ग'

यह भीली प्रभाव है। अवंल से लेकर दक्षिण में खानदेश और पूर्व में विन्ध्य और सतपुड़ा की उपत्यकाओं में भीली प्रदेश में यह प्रवृत्ति वर्तमान है। राजस्थान और गुजरात—जहाँ इनके राज्य विस्तृत थे इस प्रवृत्ति से पूर्णतः प्रभावित हैं। शकों की भाषा में इस प्रवृत्ति के होने के कारण प्रियसैन ने इसको शक प्रभाव माना है, परन्तु शकों में और इनमें इस प्रवृत्ति का स्रोत एक ही है और उसका मूल स्थान है काकेशिया, जहाँ से दोनों के पूर्वजों ने प्रसार किया। भील हूणों से प्राचीन हैं। यही प्रवृत्ति सामोअ

(Samoa) के आस पास के द्वीप समूहों में वर्तमान है।^७ इसी प्रकार इन दोनों में दन्त्योष्ठ्य व् (V)^८, और द्वयोष्ठ्य व् (W)^९ भी वर्तमान है।

भील भारत की उन प्राचीनतम जातियों में से है जो रामायण और महाभारत युग से भी पहले वर्तमान थी और अर्वल, विन्ध्या तथा सतपुड़ा के प्रदेश इनके निवास स्थान थे। पूर्व में जहां पूर्वी द्वीप समूहों तक उनका सम्बन्ध था इसी प्रकार पश्चिम में काकेशिया और फिनिशिया तक भी इनका सम्बन्ध रहा है। भाषा तत्त्व के आधार पर इसको खोजा जा सकता है। भारत की प्राग्-एतिहासिक जातियों के उद्गम या विकास की भूमि राजस्थान का वह भूखण्ड भी है जिसको अर्वल कहा जाता है। इसी प्रदेश में उसी आदिम जाति के निवास स्थान है जिसको भील कहा जाता है। भीलों की अपनी भाषा यद्यपि आज नष्ट हो गई है और वे आर्य भाषा ही बोलते हैं फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व उसमें वर्तमान हैं जो उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं। अर्वल में बिखरी हुई बस्तियों का प्रान्त अति प्राचीन काल से 'मगरा' कहलाता है। यह 'मगरा' शब्द भाषा पुरातत्व की दृष्टि से विचारणीय है। राजस्थानी में इसका अर्थ पहाड़ होता है और उसी से उसका पहाड़ी प्रान्त से भी अर्थ लिया जाता है। इसका सम्बन्ध इजिप्टो-फिनिशियन शब्द 'मगरोह' से है, जिसका अर्थ उन भाषाओं में भी पहाड़ ही होता है। इसी आधार पर फिनिशिया के एक प्रान्त का नाम 'वाड़ी मगराह' (Wady Magrah) मिलता है, जिसका अर्थ फिनिशियन भाषा में पहाड़ी प्रान्त से ही होता है। वाड़ी शब्द की व्युत्पत्ति वाटिका से मानकर उसका अर्थ किसी छोटे बाग-बगीचों से लिया जाता है, परन्तु राजस्थान-गुजरात में प्राचीनकाल से ही इस शब्द का प्रयोग निवास, बस्तो, प्रान्त, सीमा आदि अर्थों में होता आया है; जैसे—

१. प्राचीन बड़ी जातियों की बस्तियों और सीमाओं के द्योतक—भीलवाड़ो, मेरवाड़ो, मेवाड़ आदि।
२. अन्य स्थानीय विशेषताओं वाली बस्तियों के द्योतक—मारवाड़, वूँडाड़, खैराड़, (आड़ < वाड़) आदि।
३. उत्तरकालीन जातियों और स्थानीय विशेषताओं की बस्तियों और स्थानों के द्योतक—जिलवाड़ो, केलवाड़ो, खैरवाड़ो, बाँसवाड़ो, सागवाड़ो, गौरवाड़, झालावाड़, रीछेड़ (रीछ + ईड < वीडु) आदि।
४. एक ही गांव या नगर में भिन्न जातियों के मुहल्लों के आधुनिक नाम—कुम्हारवाड़ो, तेली-वाड़ो, मोचीवाड़ो, कोलीवाड़ो, भोईवाड़ो, जाटवाड़ी, बोहरवाड़ी आदि।

7. "Apart from traditions Samon is the most archaic of all Polynesians tongues and still preserves the organic letter S which becomes H or disappears in nearly all other archipelegos. Thus the terms Sawaii, itself, originally Savaiki is supposed to have been carried by Samsan wanderers over the ocean of Tahiti, Newzealand and the Marquisses Sandwhich groups, where it still survives in such varient forms as Havar,⁷ Hawaiki,⁸ Havaiki⁹ and Hawaite.⁷"

Encycloepedia Brittanica Vol. XXIV P. 115-11th Ed.,

इनमें एक ही शब्द के वाड़, वाड़ो, वाड़ी, वीडु चार रूप हैं, जो स्थान और सीमा के द्योतक हैं और फिनिशियन वाड़ी (Wady) के समानार्थी हैं। 'मगरा' शब्द पर विस्तारपूर्वक विचार करने से हमारा ध्यान पूर्व की ओर मगध और वहां से वर्मा के अरकान पहाड़ी प्रदेश में बसी हुई अति प्राचीन जाति 'मग' की ओर आकर्षित हो जाता है और कुछ ऐसा लगता है कि इजिप्टो-फिनिशियन 'मगराह' राजस्थानी 'मगरो' बिहारी 'मगधरा' और 'अरकान' के 'मग' में 'मग' तत्व में ध्वनि-साम्य के साथ कोई अर्थसाम्य भी है।

इस प्रकार 'मगरा' से भीलों का सम्बन्ध पश्चिम में एशिया माइनर और पूर्व में अरकान तक कहा जाता है। वाड़, वाड़ो, वाड़ी, वीडु शब्दों से इनका सम्बन्ध पश्चिम में एशिया माइनर और दक्षिण में तमिलनाड़ (>तमिल्लवाड़) से स्थापित होता है। तमिल से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य प्राचीन भीली शब्द पाल, पाली, पालवी हैं, जो द्रविड़ से ध्वनि-साम्य और अर्थ साम्य रखते हैं। भीलों में इनका अर्थ क्रमशः सीमा, बस्ती और मुखिया होता है। तमिल में 'पल्ली' शब्द भीली 'पालवी' का समानार्थी है। इस प्रकार 'वाड़' (वीडु) और पाल (>पल्ल) प्राचीनतम शब्द हैं और प्राचीनतम भाषावशेष भी, जिनका सम्बन्ध राजस्थान से अति प्राचीनकाल से चला आया है।

इस प्रकार अर्वलि (>अर्+वल्लि) और अर्बुद (अर्+बुद) में अर् का अर्थ भी पहाड़ होता है। 'अर्' के समानार्थी फिनिशिया में 'अर्दस' (पहाड़ी प्रदेश) यूनान में, 'अर्कादिया'(Arkadia) = पेलोपोनीज का एक पहाड़ी प्रान्त और वर्मा में 'अरकान' नामों में 'अर्' तत्व वर्तमान हैं। अ-अर तत्व की प्राचीनता और भीलों का उसके साथ सम्बन्ध इससे स्पष्ट होता है और यूनान तथा फिनिशिया से लेकर अरकान तक किसी एक साम्य-सम्बन्ध का संकेत मिलता है। यह शब्द 'मगरो' के बहुत पीछे का है और सम्भवतः आर्य भाषा का शब्द है।^{१०} इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भील आर्यों से बहुत पहले इस देश में वर्तमान थे और यहां आ चुके थे-अथवा यहां से अन्य देशों में गये हों।

१०—संस्कृत में 'अर्' शब्द का प्रयोग पहाड़ के लिये ही हुआ है, पर भारत में इस प्रान्त को छोड़कर शायद कहीं भी पहाड़ के लिये 'अर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सम्भवतः 'अर' शब्द संस्कृत में बहुत पीछे स्वीकृत हुआ होगा। आबू पर्वत में आबू शब्द का विकास अर्बुद से माना जाता है। अर्बुद अर्+बुद। यहाँ कुछ लोगों ने बुद शब्द का सम्बन्ध फारसी 'बुत' जो स्थापित किया जो ठीक नहीं है। बुद शब्द 'भुज' का अपभ्रंश है। भुज के 'म' में महाप्राण लोप होकर 'ब' हुआ और 'ज' का 'द' में परिवर्तन हुआ—जैसे—कागज का कागद। इधर 'अर' शब्द का अर्थ पहाड़ स्पष्ट होने पर भी डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' में लोक प्रचलित कथन के आधार पर अर्वलि शब्द की व्युत्पत्ति 'आडावला' (आड़ा+अवला=उल्टा-सीधा) से मानी है। यह उलटी व्युत्पत्ति मान लेने पर अर्बुद की व्युत्पत्ति कैसे मानी जायगी। 'आड' शब्द का सम्बन्ध हाड़ >पहाड़ से है वला, वलि, वल शब्दों का अर्थ निवास स्थान से होता है। अतः स्पष्ट है कि आडावला अर्वलि का ही अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ 'मगरा' या पहाड़ी प्रदेश से है।

भारत में आदिम जातियों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। एक पक्ष का मत है कि भारत की आदिम जाति का उद्भव भारत में ही हुआ^{११} 'वह कहीं बाहर से नहीं आई।'^{१२} दूसरे पक्ष का मत है कि भारत में किसी भी आदिम मानव का उद्भव नहीं हुआ। वह दक्षिण अफ्रीका से आया यह निग्रो-बंदु परिवार से सम्बन्धित निग्रोइड (Negroid) या नेग्रिटो (Negrito) कहा जाता है।^{१३} इस नेग्रिटो जाति के लोग बौने और काले रंग के थे। उनका कपाल दीर्घ, नाक चौड़ी और ठुड़ी ऊंची होती था। ये लोग भूमि पर से चुने हुए अन्न से अपना निर्वाह करते थे। इसी तरह ये भोजन की खोज में विचरते हुए अरब और ईरान के समुद्र तटों पर होते हुए भारत में आ पहुँचे। लगभग सात हजार वर्ष पूर्व उषः प्रस्तरयुग (Eolithic) में इन लोगों ने भारत में प्रवेश किया। समुद्र तट के मार्ग से होकर आने के कारण आबू के आस पास के पहाड़ी प्रदेश में इन लोगों ने अपना निवास किया होगा, क्योंकि उसके आसपास समुद्र तट था। इनको न तो खेती का ज्ञान था और न पशु पालन का। ये लोग भोजन की खोज में आये और पूर्व में बढ़ते-बढ़ते अंदामान द्वीपों तक पहुँच कर वहाँ बस गये। वहाँ आज भी उनकी कुछ बस्तियाँ हैं; जिनमें उनकी अपनी ही भाषा बोली जाती है। इन लोगों में से जो लोग राजस्थान में रह गये उनका क्या हुआ, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसके लिये भाषा पुरातत्व में अवशेषों की खोज की जा सकती है। यह सम्भव है कि इनके पीछे आने वाली जातियों के द्वारा ये लोग तितर-बितर कर दिये गये हों अथवा उन्हीं में मिल गये हों। निग्रोबंदु भाषा प्रवृत्तियों के आधार पर यह खोज सम्भव है। बन्दु परिवार की भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय संयोगी (Prefix-agglutinating) होती हैं और इनमें व्याकरणिक लिंग-भेद नहीं होता। जिस प्रकार पूर्व में आसाम में तिब्बत-बर्मा परिवार के अन्तर्गत नाग जाति के लोगों में 'निग्रोबन्दु' अवशेष मिलते हैं। उसी प्रकार पश्चिम में भी बलूचिस्तान के दक्षिण में इन जातियों के अवशेष अब भी वर्तमान हैं। प्राचीन काल में उदयपुर के आसपास के पहाड़ी प्रदेशों में नागों की बस्तियाँ थी जिसके अवशेष उदयपुर के पास नागदा गाँव में मिलते हैं। असम की सीमा पर वीमडिला, लाठीटिला आदि ला अन्तवाली नागों की बस्तियों के समान बस्तियों के नाम राजस्थान के इस प्रान्त में (और अन्यत्र) भी मिलते हैं, जैसे—बेदला, ऊँडाला, पोडला, रायला, गटीला, गुडला। इन नामों के आधार पर यहाँ के लोगों की बोलियों में प्राचीन भाषा तत्त्वों के अवशेष प्राप्त हो सकते हैं।

नेग्रिटो लोगों के पश्चात् भारत में प्रवेश करने वाली जाति प्राथमिक दक्षिणाकार (Proto-Austroloid) मानी जाती है। ये लोग काले और मध्यम कदवाले थे। इनका ललाट ऊँचा और मुँह तथा नाक

11. "So far as known the bulk of population of India has been stationery"

—Dr. Hodden—'Wonderings of the People—P.25.

12. "The earliest political event in India to which an approximately correct date can be assigned is the establishment of the Shaishunag dynasty of Magadh about 642 B.C."

—V.A. Smith—'Early History of India'. Introduction P. 2.

13. "We have thus the Primitive Negrito tribes, probably the most ancient people to mak India their homes; no proof has yet been found that a man of any type had evolved from some kind of anthropoid ape on the soil of India.

—S.K. Chaterji—'Indio Aryan and Hindi'.—P.2.

चौड़े थे। भीलों को भी इन्हीं का वंशज माना जाता है। भील >मिल्ल जाति को नृतत्व विशेषज्ञों ने राजस्थान की आदिम जाति माना है।^{१४} परन्तु डा० चाटुर्ज्या के मत के अनुसार वे बाहर से आयी हुई इस प्राथमिक दक्षिणाकार जाति के वंशज थे और ये भारत में आर्यों से पूर्व ही आ चुके थे। आर्यों द्वारा ये निषाद कहे जाते थे—‘इस निषाद जाति के लोगों ने भारत की कृषि मूलक सभ्यता की नींव डाली थी। गंगा की उपत्यका में इनकी बस्ती ज्यादातर हुई थी, और वहाँ ये लोग धीरे-धीरे द्रविड़ तथा आर्य लोगों से मिल गये.....इनकी उपजातियाँ थीं, जिनमें दो मुख्य थे ‘मिल्ल’ और ‘कोल्ल’ लोग—जिनके उत्तर पुरुष ये हुए—राजपुताने और मालवे के ‘भील’ लोग और मध्य भारत तथा पूर्व भारत के कोरकु, सन्थाल, मुन्डारी हो, शबर, गदब आदि कोल जाति के मनुष्य’।^{१५} ये भील-कोल आज भी राजस्थान और मालवा में अर्वालि पहाड़ों की उपत्यका में तथा दक्षिण में इसी से सम्बन्धित पहाड़ियों में खानदेश तक और विन्ध्याचल के पहाड़ों और जंगलों में बसे हुए हैं।

इन भीलों की यद्यपि आज अपनी कोई भाषा नहीं है और जो भाषा ये लोग बोलते हैं वह राजस्थानी—आर्य भाषा ही है जो थोड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं के साथ पूरे भीली प्रान्त में बोली जाती है। इनकी इस भाषा का प्रभाव आस-पास की स्थानीय भाषाओं पर भी देख पड़ता है।^{१६} इसमें कुछ प्राचीन तत्व अवशेष के रूप में वर्तमान है जो किसी स्वतन्त्र आर्यतर बोली के अवशेष हैं। ये अवशेष दो रूपों में पाये जाते हैं।

१. ध्वनि (उच्चारण) सम्बन्धी, और

२. रूप (शब्द) सम्बन्धी

यह भीली प्रभाव राजस्थान की भाषा पर भी व्यापक रूप में देख पड़ता है, जिसके कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। और आगे भी दिये जायेंगे। इन भीलों में से कई अपने को क्षत्रियों के वंशज (राजपूत) बतलाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि किसी समय राजस्थान और गुजरात में

14. ‘Taking them as we find them now, it may be safely said that their present geographical distribution, the marked uniformity of physical characters among the more primitive members of the group, their animistic religion, their distinctive languages, their stone monuments, and their retention of a primitive system of totemism justify us in regarding them as the earliest inhabitants of India of whom we have any knowledge.’

—H.H. Risly, ‘Ethnology and Caste’—Imperial Gazetteer of India (i) 299.

१५. ‘राजस्थानी’ पृ० ३७-३८।

१६. भील लोग मध्य भारत तथा विन्ध्या और सतपुड़ा की घाटियों से बढ़ते हुए दक्षिण में खान देश तक फैले हुए हैं और इनकी उच्चारण प्रवृत्ति का प्रभाव मराठी और गुजराती पर प्रबल है। सु.कु. चाटुर्ज्या,

इनके राज्य वर्तमान थे और कुछ तो स्वाधीनता के पूर्व तक वर्तमान थे। दूसरा कारण भीलों और राज-पूत जातियों का परस्पर मिश्रण है,^{१७} जिसने व्यापक रूप में राजस्थानी के निर्माण का काम किया।

डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार भील और कोल के आदि पुरुष आग्नेय (Austrio) जाति के लोग थे। यह जाति हिन्द-चीन की ओर से आने वाली 'प्राथमिक आग्नेय' (Proto--Australoid) जाति से इस देश में आदि कृषक के रूप में विकसित हुई। आग्नेय लोगों के पश्चात् द्रविड़ और द्रविड़ों के पश्चात् आर्य लोगों ने भारत में प्रवेश किया। आर्य साहित्य में जिस निषाद जाति का उल्लेख मिलता है वह आग्नेय जाति ही थी। इसी निषाद जाति के वंशज अर्बलि की पर्वत श्रेणियों और मालवा की पठार भूमि में बसे हुए भील माने जाते हैं^{१८}। मध्य और पूर्व भारत की कोरकू, सन्धाल, मुन्डारी, ह्यो, गदब, शबर आदि जातियाँ कोल जाति से विकसित मानी जाती हैं। कोल भी इन निषादों के ही वंशज थे। इस प्रकार इन सभी जातियों में एक वंश-परम्परा है। इस कारण इनकी भाषा-प्रवृत्ति में कहीं कहीं साम्य-प्रभाव लक्षित होता है। डा० ग्रियर्सन ने अपनी भाषा सर्वे में भारत की कोल और मुन्डा श्रेणी की भाषाओं, असम और मोनख्मेर जाति की 'खसी' भाषा भारत-चीन तथा भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप-समूहों की भाषाओं को आग्नेय (Austrio) भाषा से विकसित माना है। परन्तु भीली का उल्लेख उन्होंने इसके अन्त-गंत नहीं किया।

१७. (क) राजस्थान के भील अपने को क्षत्रीय-वशी मानते हैं। मेवाड़ के भोमट प्रान्त में पान रवा का भील राज, जो राणा की उपाधि से विभूषित है, वह भोमिया भील है और सोलंकी कहलाता है; क्योंकि उसमें क्षत्रिय का मिश्रण है—Tod—"Annals", Vol. P185.

(ख) विन्ध्यप्रदेश के भिलाड भी इसके उदाहरण हैं—Bhilads : Closely related to Bhils, Patlias and other tribes which inhabit the Vindhya and Satpaldas. They claim however Rajput descent and are considered to be of higher status than their neighbours. The Bhumias or allodial proprietors of this hilly tract are all Bhilads...According to traditions their ancestors lived at Delhi. They were Chauhans and members of the family of Prithviraj. When the Chauhans were finally driven out from Delhi by Mohammadons (by Muiz-ud-din 1192 A.D.) 200,000 migrated to Mewar and settled at Chittor. On the capture of Chittor by Allahuddin in 1303 A.D. a large number of them fled to Vindhya hills for refuge. Here they married Bhil girls and lost their caste."

—L.J. Blunt, 'As short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.

१८. भील की उत्पत्ति के विषय में कई कथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से तीन अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक उनका निषाद से सम्बन्ध स्थापित करने वाली भी है:—

१. पहली कथा राम और धोबी की है। इसमें उक्त धोबी अपनी बहन से विवाह कर लेता है। उसके सात लड़के और सात लड़कियाँ उत्पन्न हुईं। राम ने पहले लड़के को घोड़ा दिया। वह उसको चलाने में असमर्थ रहा और जंगल में लकड़ियाँ काटने चला गया। भील उसी के वंशज है।

सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से आर्य जाति का जैसा प्रभाव इस देश पर पड़ा वैसा बाहर से आने वाली किसी भी जाति का न पड़ा। आर्यों में समन्वय की जो महान् शक्ति थी वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रबल और सक्रिय बनी रही। सम्भवतः उक्त भीलों अथवा उनके आदि पुरुषों की जो भी भाषा रही होगी उसका समन्वय धीरे धीरे आर्य भाषा में हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि आर्य जाति और उसकी संस्कृति तथा भाषा में एक ऐसी शक्ति रही कि जिन जिन जातियों ने इस देश में प्रवेश किया तथायहाँ आकर जम गई उनकी संस्कृति और भाषा को अपनी संस्कृति और भाषा में मिला कर एक कर लिया। भाषा इस समन्वय का प्रथम और प्रधान साधन रहा है। यही कारण है कि भौगोलिक दृष्टि से एकता रखने वाले इस देश की अनेकता में भी एकता बराबर बनी रही है। आर्यों की भावनात्मक और विचारात्मक स्तर उच्च कोटि का होने के कारण आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव यहाँ की अन्य जातियों पर पड़ने के कारण इस एकात्मकता का विकास हुआ और उसकी अभिव्यक्ति भी उन्नी के अनुकूल भाषा में हुई। भारतीय आर्य सभ्यता और संस्कृति के भीतर यहाँ के आदि वासियों अथवा बाहर से आने वाली प्राचीनतम जातियों के विकसित युग की सभ्यता और संस्कृति के अवशेष वर्तमान हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का निर्माण हुआ। भील जातियों में जो धार्मिक प्रथाएँ वर्तमान हैं वे हिन्दू संस्कृति की द्योतक होते हुए भी आर्यों की वैदिक रीतियों के अनुकूल नहीं है। आग्नेय जाति के पश्चात् जो जातियाँ भारत में आईं वे एक दूसरी से अधिक विकसित, सभ्य और सबल थी और ये लोग अपने साथ जो भी भाषा लाये उसकी अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ, ध्वनि और रूप आदि का मिश्रण यहाँ की भाषा के साथ हुआ। मध्य और पूर्वी राजस्थान पर पहले भीलों का प्रभाव था। पीछे से आने वाली जातियों ने इन्हें जंगल की ओर खदेड़ दिया। जिससे ये सिकुड़ कर अर्बलि और अन्य पर्वत मालाओं की उपत्यकाओं में सीमित हो गये। ये लोग उत्तर प्रस्तर काल (Neolithic stage) में भारत में विकसित हुए और ताँबे और लोहे का प्रयोग आरम्भ किया खेती करने का ढंग इनमें आदिम प्रकार का था। भूमि खोदने के लिये जब ये लोग लकड़ी का प्रयोग करते

२. सात मनुष्य महादेव के पास गये। पार्वती ने महादेव से कहा कि ये मेरे भाई हैं। मेरा आपके साथ विवाह होने के उपलक्ष में ये आपसे 'दहेज-दापा' लेने आये हैं। महादेव ने उनको भोजन कराया और अपना नान्दी तथा कमण्डल दे दिया। जाते समय उन्होंने उनके मार्ग में कुछ और देने के लिये एक चाँदी पाट भी बिछा दिया, पर उस पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। पार्वती ने कहा कि तुम अवसर चूक गये, नहीं तो तुम्हारा भाग्य खुल जाता। फिर भी नान्दी का ध्यान रखना। उसकी कूबड़ में धन का भण्डार है। पार्वती का संकेत नान्दी से हल हाँक कर पृथ्वी से धन-धान्य उत्पन्न करने की ओर था, पर वे न समझ सके। उनमें से एक ने नान्दी को मार डाला। पार्वती ने क्रुद्ध होकर शाप दिया, जिससे वे भील हुए।

३. तीसरी कथा पौराणिक है। मनु स्वयंभू वंशज अंग का पुत्र वेणु निःसन्तान था। अतः ऋषियों ने उसकी जाँघ को रगड़ कर एक पुत्र उत्पन्न किया जो जले हुए लकड़ी के डींगे के समान काला था। उसका कद बौना और नाक चपटा था। उसको बैठने के लिये 'निषाद' कहा गया। वह बैठ गया और 'निषाद' कहलाया। इसी के वंशज निषाद कहलाये जो विन्ध्य पर्वत में रहते हैं।

रामायण, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि में भी इसी प्रकार की कथाएँ मिलती हैं।

-L. Jung Blunt: 'A short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.'

ये तब उसके नाम का आदिम *लक् या *लेक (*lak *lek) था। इसी से विकसित *लंग, *लेंग, *लिंग (*lang, *leng, *ling) रूप हुए। आगे चलकर यह लक्-लिंग, लकु-लिंग, लेक-लिंग रूपों में विकसित होकर लकुटीश, लकुलीश, एकलिंग आदि रूपों में मिल कर देवता के रूप में स्थापित हुआ^{१६}। लकुटीश या लकुलीश गिव रूप में स्थापित हुआ और मेवाड़ के राजवंश द्वारा उसकी पूजा होने लगी। यही लकुलीश नाम एकलिंग के रूप में इसी वंश द्वारा स्थापित होकर कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।^{२०} एकलिंग की यह मूर्ति गोभिल्ल (गौ+भिल्ल) द्वारा पालित-पोषित गुहिल-बप्पा (गुहिल ∟ गोहिल ∟ गोहिल्ल ∟ गोभिल्ल, ∟ गौ+भिल्ल) के राज्य स्थापित करने के पूर्व जहाँ स्थित थी वहाँ पहले भीलों का ही राज्य था और उपयुक्त हल के रूप में प्रयुक्त आदिम 'लेग-लिंग' से 'लकुटीश' का सम्बन्ध था।^{२१}

राजस्थान की भाषा में भीली तत्व के पश्चात् द्रविड़ तत्व मिलता है। द्रविड़ों का भूमध्य सागर के पूर्वी प्रान्तों से आगमन हुआ। यह धारणा अब अत्यधिक मान्य है। बलूचिस्तान की आहूई भाषा में द्रविड़ वर्तमान है, जो किसी समय उनके वहाँ होने का प्रमाण है। द्रविड़ भीलों के पश्चात् आर्यों के पूर्व भारत में आये और राजस्थान तथा पंजाब में फैले। इससे राजस्थान के भील पहाड़ों में दबते चले गये। फिर आर्य प्रसार के कारण द्रविड़ भी दक्षिण की ओर उतर कर फैल गये, जो अब तमिल मलयालम, कन्नड़, हगेड़, कोङ्गु, तुलु, तेलुगु, गोंड आदि द्रविड़ परिवार की भाषाओं का प्रदेश है।

अब यह मत सर्वमान्य है कि द्रविड़ भी आर्यों के समान बाहर से आकर यहाँ बसे। ये लोग आर्यों से पहले ही पश्चिम से यहाँ आ चुके थे। वीलियम क्लूक ने अपने ग्रन्थ 'कास्ट्स एण्ड ट्राइब्ज में इस धारणा का प्रसार किया कि द्रविड़ लोग अफ्रिका महाद्वीप से भारत में आये। इस विषय पर थर्सटन ने 'कास्ट्स एण्ड ट्राइब्ज आफ साउथ इन्डिया' में तथा रिसले ने 'द पीपुल आफ इन्डिया' में विस्तृत व्याख्या करते हुए द्रविड़ और निग्रो-बन्टु परिवारों में समानता स्थापित की। ए० एच्० कीने ने इस धारणा को स्वीकार किया। इधर टोपीनार्ड ने द्रविड़ों का सम्बन्ध जाटों से जोड़ने की धारणा प्रस्तुत की। परन्तु विशप काडवेल (ई० १८५६) तथा प्रो० टी० पी० श्रीनिवास आर्यंगर की शोधों ने और मोहनजोदड़ो की सभ्यता की खोद-शोध ने द्रविड़ पर नया प्रकाश डाला। इसके अनुसार द्रविड़ों का मूल स्थान भूमध्यसागर का पूर्वी प्रान्त निश्चित हो गया

१६—देखो—'लोकवार्ता', अप्रैल १९४६, वर्ष २, अंक २ पृ० ८६—'कुछ जनपदीय शब्दों की पहचान' वासुदेव शरण अग्रवाल।

२०—विशेष के लिये देखो—ओभा कृत 'उदयपुर राज्य का इतिहास', भाग १, पृ० ३३ और १२५।

२१—ऐसे और भी अनेक शब्द हैं जो इस जाति से सम्बन्ध रखते हैं और जिनका प्रभाव राजस्थानी तथा अन्य भाषाओं में वर्तमान है; जैसे—कुछ शब्द—नारिकेल (नारेल), कदन, (केल), हरिद्रा (हलद्), वातिगण (वांगण), अलानु (कोलो)—विशेष के लिये देखो :-

(1) 'Pre-Aryan and Pre-Pravidian in India (Translated from French Airtcle of Sylarain Levi, Jean Przyluski and Jules Bloch) by Prabodh Chandra Bagchi.

(2) ('The Study of New Indo- Aryan' Journal of the Department letters Calcutta University 1937 P. 20.)

और द्रविड़ों का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो की सभ्यता से स्थापित होने लगा । भाषा के आधार पर इस सम्बन्ध की पुष्टि की जाने लगी और नई शोधों तथा नये विचारों पर यह स्थापित किया गया कि द्रविड़ भाषाओं की आकृति में संश्लेषी (Agglutinating) प्रवृत्ति यूराल—अल्टाइक भाषाओं के समान है ।

अब द्रविड़—तमिल शब्दों के प्राचीन रूपों की उपकल्पना (hypothesis) और व्युत्पत्ति की व्याख्या की जाने लगी । द्रविड़ शब्द के प्राचीन रूप* द्रमिज (*Dramiz) और द्रमिल (Dramila) की उपकल्पना कर यह स्थापित किया गया कि द्रविड़ लोगों का प्राचीन नाम* द्रमिज या* द्रमिल था । इसी प्रकार तमिल का प्राचीन रूप तमिज (tamiz) था ।^{२२} एशिया माइनर के लीसियन लोगों ने अपने शिलालेखों में अपने को त्रिमिलि (trmmli) कहा है । लीसियनों के पूर्व पुरुष प्राग्—हेलेनिक युग के क्रीटन लोगों के विषय में हेरोडोटस ने लिखा है कि वे क्रीट से लीसिया में अपना प्राचीन नाम 'तरमिलइ' (Termilai) साथ लेकर आये थे (१,१७३) । किन्तु फादर हेरास ने इस वृत्तान्त के केवल 'त्रिमिलइ' शब्द को लेकर उन्हें क्रीट का निवासी बताकर 'त्रिमिलइ' और 'तमिल' में सम्बन्ध स्थापना की खोजतान की है । डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार एशिया माइनर के इन प्राचीन लीसियनों तथा प्राग्—हेलेनिक युग के क्रीटनों के नाम से ही द्रमिल, द्रमिड़, द्रविड़ दमिल और तमिल (=तमिज) नाम भारत में आये ।^{२३}

डा० चाटुर्ज्या के उक्त मत के आधार में प्रवेश कर हम उसे कुछ विस्तारपूर्वक देखना चाहेंगे । केरिया (Carea) के दक्षिण-पूर्व में पहाड़ी प्रान्त लीसिया के लोगों को त्रमिलियन (Tramilians) कहते थे । हेरोडोटस ने उन्हें 'तरमीलियन' (Termilians) लिखा है । इसी प्रान्त के उत्तर पूर्व में उस समय एक आदिम जाति (Tribe) वर्तमान थी जो मिलियन (Milyan) कहलाती थी । हेरोडोटस के अनुसार इन मिलियनों का पूर्व नाम सोल्यमी (Solymy) था और वे वहाँ के मूल निवासी थे । हेरोडोटस के वृत्तान्त के अनुसार 'तरमीलियन' लोग क्रीट (Crete) टापू से भाग कर आये थे । सरपेडोन (Serpaddon) का उसके भाई मेनोस (Menos) के साथ होने वाले संघर्ष में सरपेडोन इन लोगों के साथ भागा और लीसिया में आकर शरण ली । हेरोडोटस के अनुसार लीसिया नाम लाइक्स (Lycus) से सम्बन्धित है । लाइक्स एक यूनानी दल का नेता था जो यूनान से निकाल दिया गया था और सरपेडोन के साथ साथ उसने भी इसी प्रान्त में शरण ली^{२४} । लाइक्स का यूनान के साथ सम्बन्ध होने के कारण यूनानी लोग उस देश को लीसिया कहते थे और लाइक्स के साथियों को लीसियन । तरमीलियन शब्द मेरी समझ में किसी मिश्रण का द्योतक

२२—इन नामों में आने वाला अन्तिम 'ल्' का उच्चारण विचारणीय है । 'ल्' एक द्रव्य ध्वनि है और जिह्वाग्र के प्रयोग से अनेक स्थानों से इसका उच्चारण होता है । आज तमिल में तीन प्रकार 'ल्' का उच्चारण होता है । एक सामान्य वत्स्यं 'ल्' दूसरा मूढंन्यं 'ल्' और तीसरा शुद्ध द्रव्य ल जिसके उच्चारण में जिह्वा का अत्यन्त स्पर्श वत्स्यं से होता है और वह अंग्रेजी Z (ज्) जैसा सुनाई देता है । ऊपर जो 'ज्' लिखा गया है वह इसी ध्वनि का द्योतक है । इधर ल्, ल् का परिवर्तन 'र' और 'ड़' में भी होता है ।

23—Indo-Aryan and Hindi —PP 39-40.

(24) Historian's History of the World Vol. II P.418.

है क्योंकि यहाँ के लोग अपने को त्रिमिलियन (Tramilian) या तरमीलियन कहते थे। स्पष्ट है उनमें तीन जातियों का समुदाय हो अथवा इस प्रान्त में आने के पश्चात् लीसियन, क्रेटन और यहाँ के निवासी मिलयन, ये तीनों मिलकर त्रिमिलियन कहे जाने लगे हों। इसी प्रकार द्रमिल का सम्बन्ध क्रेटन और मिलयन के प्रथम मिश्रण के समय हुआ होगा।

अब हमें इस दृष्टि से भील और द्रविड़ सम्बन्ध पर विचार कर लेना चाहिये। भील लोग संभवतः इन्हीं मिलयन लोगों के समुदाय के हैं जो क्रेटन के मिश्रण के पूर्व और पश्चात् भी अलग-अलग जुटों में भारत में आते रहे और समुद्र के किनारे-किनारे होते हुए मलय प्रदेश की ओर बढ़ गये और वहाँ से पूर्वी द्वीपसमूहों में सामोआ (Samoa) द्वीप तक फैल गये। लीसिया में ये मिलयन लोग सम्भवतः काकेशिया की ओर से आये तब वे सोल्यमी (Solymi) कहलाते थे। भारत में आते समय ये लोग वाड़ी, वीडु, मगरा आदि शब्द एशिया माइनर से लेकर आये और वहाँ के रीतिरिवाजों को भी अपने साथ लाये। इनके बाद में आने वाले त्रिमिल-द्रमिल (Tamil-Damil) का पथ प्रदर्शन इन्होंने ही किया। ये लोग सब एक साथ न आकर क्रमशः अलग-अलग आये होंगे— पहले मिल, फिर द्रमिल और अन्त में त्रिमिल। पहाड़ के अर्थ में 'मगरा' और 'अर' शब्द इन्हीं से सम्बन्धित है और उतने ही प्राचीन हैं, जितने ये। इन्हीं में से कई दल पूर्व में और जिन मैदानों में बसे वे 'मगहर', 'मगध' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर अरकान के पहाड़ी प्रान्त में रहने वाली 'मग' जाति इन्हीं से सम्बन्ध रखती है। इधर मिल (मिलयन) जो अरकान से दक्षिण में बढ़े उनके नाम से मलयन, मलय आदि नाम पड़े। उससे आगे पूर्वी देशों में जो सबसे पहला दल पहुँचा वह सोल्यमी (Solymi) नाम अपने साथ ले गया होगा; जो धीरे धीरे इन द्वीपों में फैल गया। इन्हीं 'मिल' लोगों का एक दल त्रिमिल-द्रमिल के आगे-पीछे भारत के दक्षिण में पहुँचा, जो मलय प्रदेश कहा जाता है और जिनकी भाषा मलयाली है।

अब इस धारणा को भी हम विस्तारपूर्वक देख लें। भीलों को आग्नेयवंशी मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आग्नेय लोगों में पूजा और आराधना जैसी कोई भावना नहीं थी जबकि भीलों में आदि काल से 'लकुल' (लेक-लिंग) की पूजा वर्तमान थी, जिसका विकास द्रविड़-मिश्रण से शिवलिंग पूजा के रूप में हुआ। शिवशक्ति पूजा की भावना एशिया माइनर की सभ्यता से समानता रखती है जिसका आरम्भिक रूप 'मिल' (मिलयन) लोग भारत में लेकर आये और उसका परिवर्तित रूप कई वर्षों पीछे द्रविड़ लोगों ने लाकर दिया। शिव को पशुपति और शक्ति को उमा कहा गया है। एशिया माइनर के देवी-देवताओं के नामों में इन नामों से साम्य रखने वाले नाम 'तेसुप-हेपित' (Tesup-Hepit=पशुपति) और 'मा-अत्तिस्' (Ma-Attis=उमा-शक्तिः) हैं। पशुपति और उमा शक्ति की कल्पना इसी आधार साम्य पर मानी गई है^{२५}। ऋषभ तथा उसी से विकसित नाम ऋषभदेव भी इन्हीं से सम्बन्ध रखता है। उसी प्रकार अन्नत देवता की पूजा से भी इनका सम्बन्ध रहा है। इनकी राजस्थान में पूजा भी होती है और इन विषयों की

(२५) विशेष के लिये देखो :—

“Proto-types of Shiva in Western Asia.”—by Dr. Hema Chandra Ray Choudhuri-in the D.R. Bhandarkar volume pp, 301-304 1940 of the Indian Research Institute, Calcutta.

कथा-कहानियों में भीलों का बराबर उल्लेख आता है। ऋषभ और अनंत इजिप्टोफिनिशियन देवता Rechuf और Anat से साम्य रखते हैं, जो भीलों के साथ ही आये। अन्नदेवता दगोन् (Dagon) < दगन (dagan) इन्हीं की भाषा का शब्द था जो दगोन्, >गोदन गोजन, गोजूं, गोधूम तथा दगन्, दहन, धान आदि रूपों में विकसित हुआ। वस्तियों के द्योतक शब्द वीड, वाड़ आदि समाज और शासन व्यवस्था संबंधी शब्द पाल, पल्ल, पल्लवी^{२६} बिल धनुष बेल (∟ बे-एल्व=माला), बाल (∟ बाल्व=तलवार) आदि शब्द भीलों की प्राचीन सभ्यता के द्योतक हैं और द्रविड़ भील मिश्रण की ओर संकेत करते हैं। 'मिलयन' और 'मलयालम्' में जो साम्य है वह उस ओर इन्हीं की शाखा के जाने का संकेत है।

'द्रमिल' और 'त्रमिल' के भारत में आने पर उनका इस 'मिल' (मिलयन) जाति के साथ सम्पर्क और मिश्रण हुआ। मिश्रण का यह समय धातु युग था, जब 'मिल' लोग 'लकुल' की देवता के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा कर उसकी पाषाण मूर्ति स्थापित कर चुके थे और धनुषबाण तथा भाले और कृपाण का प्रयोग करने लगे थे। इनके सम्पर्क और मिश्रण के बाद 'मिल' शब्द का रूपान्तर 'बिल' हो गया, जिसका प्रयोग द्रमिल-त्रमिल > द्रविड़-तमिज़ इन धनुषधारियों के लिये करते थे। दक्षिण में जम जाने के बाद तमिल भाषा में इस 'बिल' शब्द का प्रयोग 'धनुष' के अर्थ में रूढ हो गया^{२७}। 'बिल' की भाँति ही ये लोग 'पल्ली', 'वीडु' आदि अनेक भीली शब्द अपने आप ले गये, जिनका प्रयोग आज तक सभी द्रविड़ भाषाओं में किसी न किसी रूप में होता है, और जो इस सम्पर्क और सम्बन्ध के द्योतक हैं। 'बिल' शब्द की 'ब' ध्वनि में महाप्राणत्व होकर 'भ्' होना आर्य-भाषा सम्पर्क का परिणाम है। इसी प्रकार 'ल्' में द्वित्व होकर 'ल्ल्' होना प्राकृत काल में द्रविड़-उच्चारण के प्रभाव का परिणाम है। इस प्रकार 'मिल' से 'बिल' और फिर 'मिल्ल' और आधुनिक 'भील' हुआ।

द्रविड़ और आर्य ध्वनि-संहति में एक अन्तर यह है कि आर्य भाषाओं में जहाँ महाप्राण ध्वनियाँ होती हैं वहाँ तमिल में अल्पप्राण का ही प्रयोग होता है, क्योंकि उसमें महाप्राण ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। आरम्भिक सम्पर्क में 'ब' का आर्य 'भ' होने का यही कारण था। द्रविड़-भील सम्पर्क और मिश्रण की ओर संकेत करने वाली अन्य प्रवृत्तियों में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ ट्, ठ्, ड्, (ड्), ढ् (ढ्), एण और ल् हैं जो दोनों में समान रूप से और अनेक शब्दों में थोड़े से ध्वनि परिवर्तन से शब्द का मूल या समान अर्थ निकल आता है। आज भी दोनों भाषाओं में ऐसे उदाहरण मिलेंगे। 'ल्' और मूर्द्धन्य 'ल्ल्', 'ड्' और 'ड्ल्' ध्वनियाँ दोनों में ही समान रूप से मिलती हैं। कहीं कहीं मूर्द्धन्य 'ल्ल्' का उच्चारण 'ड्ल्' के समान होता हुआ 'र' में परिवर्तित हो जाता है। प्राचीन तमिल 'भ्ल्' का उच्चारण 'Zb' जैसा होता था। भीली तथा उससे प्रभावित युक्त राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र प्रदेशों में आज भी यह उच्चारण वर्तमान है। भीली और तमिल च वर्गीय ध्वनियाँ भी इस सम्पर्क और मिश्रण के उदाहरण हैं। उच्चारण सम्बन्धी एक प्रमुख प्रवृत्ति शब्द को उका-

२६—तोलेमी (Ptalemy vii, 1, 66) ने पल्लवी को फुल्लितइ (quvvstas) लिखा है, जिससे कुछ विद्वानों इसका अर्थ 'पत्ते पहनने वाले (leafwearer, सं० पल्लव=पत्ता) अर्थ किया है, जो अशुद्ध है। यह शब्द पल्लिवइ ∟ पल्लिपति से सम्बन्ध रखता है।

27) "Bhils—Bowmeu' from Dravidian bil, a bow." Encyclopaedia Brittanica Vol II

रान्त करने की है, जो अपभ्रंश की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। तेलुगु में तो यह प्रवृत्ति एक प्रधान प्रवृत्ति है:—

प्राचीन तमिल - अक् (=वह) कन्नड़ - अक्कु = भीली - वणु (वण उस)

” ” - गुरंम तेलुगु - गुरुंमु = भीली - घोडु (= घोडो)

भीली में यह उकारान्त प्रवृत्ति वर्तमान है। राजस्थानी सर्वनाम 'अणी', (= इसने) 'वणी' (उणी = उसने) के मूल 'अण', 'वण', (उण), और तमिल 'अक्' (तथा अक् = यह) तथा उससे विकसित कन्नड़ 'अक्कु' में मौलिक समानता लगती है। 'अण' का मारवाड़ी रूप 'इण' है, जिससे हिन्दी 'इन' का विकास हुआ। इसी प्रकार 'उण' से हिन्दी 'उन' का विकास हुआ।^{२८}

आर्यों के आगमन के समय उत्तर भारत में द्रविड़ प्रभुत्व काफी फैला हुआ था। पंजाब और राजस्थान में इनके अनेक राज्य थे। आर्य प्रसार से धीरे धीरे इनका ध्वंस हुआ। इससे पूर्व द्रविड़ों ने भीलों के राज्यों का ध्वंस किया। द्रविड़ तथा भीली में कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। विशप काडवेल ने तमिल के जिन प्राचीन रूपों की जो खोज की थी उनसे कुछ इस प्रकार के उदाहरण यहां दिये जाते हैं और उनके समकक्ष उन भीली राजस्थानी रूपों को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगे:—

प्राचीन द्रविड़

को - ओ	= राजा	
को - ओ - विल	= राजा का घर	विल, वल = घर, जैसे देवल देवगृह, देखो-वीडु, वीडो आदि
कोट्टे	= राजा का सुरक्षित घर	कोट्ट, कोट = गढ़, दुर्ग,
अरुन	= राजा का स्थान	रण, रुण, राणा, (रणभूमि, रणवास,)
नाट्ट, नाडु	= प्रदेश	वाडु, वाडो, वाड, वाडो स्थान, सीमा, प्रदेश
पुल्वन	= राजा का विरुद् गायक या राजकवि	पडुहो पडुवो, बडुवो = चारण, माट, विरुद् गायक, राज घोषणा करने वाला।
कट्टलै - पभक्कम	= राज्य सम्बन्धी, लोक-व्यवहार, कानून कायदे	भट्टक-पट्टक ताजीम = मेवाड़ के राजवंश में वह सर्वोच्च राजकीय सम्मान जो किसी महत्वपूर्ण सामन्त को विशेष सम्मान में प्रदान किया जाता था।

२८—हिन्दी में 'इन' तथा 'उन' सर्वनामों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये गये पर कोई अनुमान ठीक नहीं है। देखो-धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ २६२-२६४।

देखो 'लोकवात्सी' दिसम्बर १९४४ में पृष्ठ ४४ पर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का लेख 'द्रविड़'

ऊर	=	नगर	ऊर=नगर; जैसे नाग+ऊर=नागौर, बाग+ऊर=बागौर, खमगा+ऊर=खमगौर, जाल+ऊर=जालौर
बिल	=	घनुष	बिल, बिल, भिल, भिल्ल (=भील) बेल (देखो-आधु० बेलदार=भील
ए-एर	=	हल	वे-एर (वेरवो, वेरनो)=चीरना
वे-उ-त्व	=	बर्छा भाला	वल्लव, वल्लम, बल्लम, भल्लम=भाला

कुछ अन्य द्रविड़-भीली शब्द:-

तमिल कन्नड़	- कुदिरै - कुदुरे]-वाहन (घोड़ा)	भीली-कूतरी-भैरव का घोड़ा कुत्ता कूतर, कुत्तुल, तुतुल (बोली में तू-तू), =देखो प्राकृत कुक्कुर, कुत्तुर, आधु० कुत्ता ।
तमिल तेलुगु	- गुर्रम - गुर्रमु, गुरर]-वाहन (घोड़ा)	भीली-टेघडु-भैरव का घोड़ा (कुत्ता) मिलाओ-राज० घोटडो (टेघड-घोटड) और सं० घोटकः

और मिलाओ - राज० - घोटड > घोत्र, घुत्र; भीली - कुत्र, कूतर, तमिल - कुतिरे, कन्नड़ - कुदुरे = प्राचीन मिश्री - हत्र (htr) ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भीली-द्रविड़ भाषा तत्वों के गहन अध्ययन से इनकी प्राचीन भाषा और संस्कृत सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है । राजस्थान में द्रविड़ प्रभाव का कुछ आभास उपर्युक्त उदाहरणों से मिल जाता है । राजस्थान की राजकीय संस्कृति स्पष्टतः भीली-द्रविड़ तत्वों से सम्बन्धित है और राजस्थानी भाषा के आधार में भी वे तत्व वर्तमान हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । ऊपर दिये गये उदाहरणों से इसका थोड़ा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है : प्राचीन द्रविड़ शब्दों 'कोट्टै' और 'अरन्' को लीजिये । इनके भीतर जो अर्थ है उसका तात्पर्य किसी दुर्ग और रणभूमि से है । दोनों का प्रयोग राजस्थान में उसी अर्थ में होता आया है । दूसरा शब्द 'पुल्वन' है, जिसका सम्बन्ध 'पल्लवी' (अधिपति या राजा) के साथ जुड़ा हुआ है । तमिल में इस शब्द का अर्थ 'राज कवि' होता है । इसका राजस्थानी रूप पड़हो > पड़वो बराबर प्रयुक्त होता आया है २६ । इसका आधुनिक राजस्थानी रूप 'बड़वो' जो इसी जाति के परिवार विशेष के लिये आज भी बराबर प्रयुक्त होता है । इस शब्द के इन रूपों को मिलाने से यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा ।

२६—देखो हेमरतन कृत पदमणि चउपई (वि० सं० १६४५) :

आगलि पड़हउं फिरतउं दीठ (६६) ।

पूछलं लागा पड़ विचार (७०) ।

पुल्वन, पल्लवण, पल्लवण, पडवण, पडवण, पडवण, पडवो, पडवो, बडवह,

बडवो, मडवह, मडवो; बड, मड, मट, प्राकृत- भट्ट >आधु० भाट । ये सब चारण-भाटों की राजकीय परम्परा के उद्घाटक शब्द हैं । तमिल-‘कट्टलै-पभक्कम’ मेवाड़ में प्रचलित ‘भट्टक - पट्टक’ ताजीम से सम्बन्धित है । इन शब्दों से सारी राजकीय संस्कृति के मूल आधार का चित्र प्रस्तुत हो जाता है ।

अब हमें कोल आदि जातियों और भीलों के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालना है । भील-कोलों को निषाद वंशी कहकर दोनों में पैतृक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है । भीलों के पश्चिम से आने की धारणा प्रमाणित हो जाने के पश्चात् इस सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । निषाद को आग्नेय (Austriac) मानकर उसका मूल स्थान हिन्द-चीन में माना जाता है । डा० ग्रियर्सन ने कौल-मुन्डा भाषाओं को आसाम की मोन-ख्मेर जाति की खसी भाषा, भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप समूहों की भाषाओं के साथ आग्नेय समूह (Austriac group) में लिया है । इस समूह में भीली को सम्मिलित नहीं किया गया है । हम ऊपर बतला चुके हैं कि भीलों की यद्यपि अपनी कोई मूल भाषा नहीं रही और आज ये आर्य भाषा-राजस्थानी ही बोलते हैं, पर इनकी इस भाषा में भी इनकी अपनी भाषा की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ और तत्व वर्तमान हैं, जिनका प्रभाव राजस्थानी की आधार-रचना में दीख पड़ते हैं । ये प्रवृत्तियाँ और भाषा तत्व आग्नेय से सर्वथा भिन्न हैं । अतः भील को आग्नेय में सम्मिलित करना उचित नहीं है । डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भीलों का जो आग्नेय कौल के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है वह भी प्रमाणभूत नहीं है । आग्नेय चाहे दक्षिण चीन से आया या उत्तरी हिन्द-चीन से अथवा भूमध्य सागर से, ३० भील उस समूह के भीतर नहीं रखा जा सकता । यह बात ठीक है कि किसी समय सारे उत्तरी भारत-पंजाब, राजस्थान तथा मध्यभारत और यहां तक कि दक्षिण में भी आग्नेय लोगों ने अपने घर बसाये और राज्य स्थापित किये और अपनी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान और कला से इस देश को प्रभावित किया । चन्द्रकलाओं पर आधारित तिथियों के अनुसार दिवस-गणना इन्हीं की देन मानी जाती है । इसी प्रकार बीस तक की संख्या को ‘कौड़ी’ में गिनना इनकी विशेषता का एक प्रमुख अवशेष है । इनकी भाषा के अवशेष आज भी खस, कौल, मुन्डा, संथाल, हो, भूमिज, कूकूँ, सबर, गदब आदि की बोलियों में मिलते हैं ।

विशप काडवेल ने अपने द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण में आदि द्रविड़ों के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की ओर संकेत करते हुए द्रविड़ भाषाओं के दो वर्ग कर दिये हैं—एक अपरिमाजित (Uncultivated) और दूसरा परिमाजित (Cultivated) । इनके आधार पर द्रविड़ भाषाओं को इस प्रकार बाँट दिया गया है ।

अपरिमाजित

१. टोडा (Toda)
२. कोटा (Kota)

परिमाजित

१. तमिल (Tamil)
२. मलयालम (Malayalam)

३०—Jean Przylusky तथा अन्य विद्वानों के मत, देखो सु० कु० चा० कृत ‘भारत में आर्य और अनार्य’ पृ. ६

३. गोंड (Gond)

३. तेलुगु (Telugu)

४. खोंद या कू (Khond or Ku)

४. कन्नड़ (Kannad)

५. ओराँव (Oraon)

५. तुलु (Tulu)

६. राजमहल (Rajmahal)

६. कुड़गू-कूर्ग (Kudgu-Koorg)

काडवेल ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए यह संकेत किया है कि द्रविड़ और कोल एक ही जाति की भाषाएँ हैं। ओराँव भाषा को होडसन (Hodgson) ने द्रविड़ और कोल के बीच की कड़ी माना। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रविड़ और कोलारियन परस्पर सम्बन्धित है। काडवेल ने जार्ज केम्पवेल द्वारा कोलारियन समुदाय में सम्मिलित भाषाओं तथा होडसन द्वारा तमिल में सम्मिलित हो, मुंडा, कौल, शबर आदि भाषाओं को द्रविड़ भाषाओं की सूची में नहीं लिया^{३१}। डा० चाटुज्या कोल आदि को आग्नेय परिवार में सम्मिलित करते हुए उनके साथ द्रविड़ आदि जातियों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

नृतत्व (Anthropological) आधारों के अनुसार भारत के बाहर से आने वाली सात प्रमुख जातियों में से पूर्व में हिन्द-चीन-असम के मार्ग द्वारा आने वाली आग्नेय (Austriac) जाति है, जो आर्यों द्वारा निषाद कही गई है। संस्कृत साहित्य में भील का उतना प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता जितना निषाद और कोल का मिलता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भील आर्य सम्पर्क में बहुत पीछे और उस समय आये जब ये आग्नेय द्रविड़ आदि से जंगलों में धकेल दिये गये थे। आर्यभाषा संस्कृत का सीधा प्रभाव तो राजस्थान पर कभी पड़ा ही नहीं। प्राकृत प्रभाव भी बहुत देर से आया। शबर और भील नाम लगभग साथ साथ आते हैं। दोनों शिव के उपासक थे परन्तु शबर का प्रयोग भील के लिए नहीं हो सकता क्योंकि दोनों नाम अलग अलग सुरक्षित हैं। यह सम्भव है कि शबर का सम्बन्ध किरात से रहा हो।

भील सम्बन्धी ऊपर दी गई कथाओं में से एक कथा में इनका राम के साथ सम्पर्क होने के सम्बन्ध में है। सम्भवतः इसका आधार आर्यों के साथ प्रथम सम्पर्क रहा हो। उस समय निषाद और कोल^{३२} भी वर्तमान

(31) "Tuda Kota, Gond and ku, though rude and uncultivated, are undoubtedly to be regarded as essentially Dravidian dialects equally with the Tamil, Canarese and Telugu. I feel some hesitation in placing in the same category the Rajmahal and Oraon, seeing that they appear to contain so large an admixture of roots and tongues, probably the Kolarian. I venture, however, to classify them as in the main Dravidian.....The Oraon was considered by Mr. Hodgson as a connecting link between Kol dialects and the distinctively Tamilian family."

—Caldwell : A Comparative Grammar of Dravidian Language—P.49.

३२—कोल और निषादों का जब अलग अलग उल्लेख मिलता है तो कोल को निषादों का वंशज मानना भी युक्ति संगत नहीं जान पड़ता। कोल-मुन्डा परिवार को आग्नेय में सम्मिलित करने के सम्बन्ध में भी अभी अभी आपत्ति उठाई गई है। विशप काडवेल ने तो इन्हें द्रविड़ परिवार में लिया है। हंगरी के एक विद्वान विलमोस हेवेसी (Vilmos Hevesy) ने इन्हें किसी अन्य परिवार की होने की ओर संकेत किया है। इसके यूराल-अल्ताई (Ural-Altai) श्रेणी की एक भाषा भारत में आई है जिसका सम्बन्ध कोल-मुन्डा से है, आग्नेय समूह की भाषाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसका प्रयोजन उस प्रान्त की किसी जाति के भारत में आने का है, जिसके वंशज कोल-मुन्डा हैं। यदि यह प्रमाणित हो जाता है और भील तथा कोल-मुन्डा में किसी सम्बन्ध का प्रमाण मिल जाता है तो सामोआ (Samoa) द्वीप समूह की काकेशियस जाति तक यह सम्बन्ध रेखा स्पष्ट हो जायगी और भील की प्राचीनता स्थापित हो जायगी।

थे। अतः निषाद को भीलों का आदि पुरुष मानना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। कोल भाषा के कुछ शब्द वेदों की भाषा में भी मिलते हैं जिससे निषादों से पूर्व उनका वर्तमान होना पाया जाता है^{३३}। इस आधार से भी सिद्ध है कि भील इन दोनों (निषाद-कोल) से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र जाति थी और कोल-मुंडा परिवार से अलग थी।

भीली की प्राप्त मूल प्रवृत्तियां और मूल तत्वों के आधार पर कोरकु, संधाली, मुंडारी आदि जीवित भाषाओं के सम्बन्ध की खोज अपेक्षित है। राजस्थान में कोल-मुंडा के कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं, जिससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग राजस्थान में आये अवश्य और कहीं कहीं अपने अवशेष भी छोड़े। पर इनका प्रभाव भीलों पर कितना पड़ा यह विचारणीय है। कहीं कहीं इनके अवशेष 'कोली' और 'ओड़' जाति के रूप में मिलते हैं। कोली बांस का काम करते हैं और बीस बांसा के गट्टे के लिये मुंडा शब्द 'कौड़ी' का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'ओड़' में भी है, जो मिट्टी खोदने का काम करते हैं। यह कहने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि राजस्थान की मुंडा (\angle मुंडारी) जाति कितनी प्राचीन है और उसकी मुंडा के साथ कोई परम्परा का सम्बन्ध है। इन लोगों के प्रभाव और प्रसार क्षेत्र गंगातट, बंगाल तथा उड़ीसा तक ही विशेष रूप में रहे। द्रविड़ों का प्रभाव उत्तर-पश्चिम भारत तथा पश्चिम और दक्षिण में अधिक रहा। इस प्रभाव के दो परिणाम हुए। एक तो पूर्व से कोल मुंडा तथा निषादों का राजस्थान पर अधिक प्रभाव नहीं फैल सका।

दूसरा द्रविड़ ने भील पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इनमें पूजा की भावना एक समान थी ही; इस कारण इस मिश्रण से भील के 'लकुलीश' का रूप 'लकुटीश' हो गया और लकुटीश तथा लकुलीश एक ही देवता के दो नाम हुए। द्रविड़ों की शिवलिंग पूजा का भी प्रभाव फैला।

२. आर्य-संपर्क और भाषा प्रवृत्तियां

आर्यों के आगमन और सम्पर्क के समय द्रविड़-प्रभुत्व काफी प्रबल और विस्तृत था, जो मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के उद्घाटन से ज्ञात होता है। उस समय पंजाब, राजस्थान, पश्चिम और उत्तर पश्चिम भारत, मध्य भारत और दक्षिण पर द्रविड़ों का प्रभाव था। भीलों की भाषा अब तक सीमित होकर दब चुकी थी अथवा द्रविड़ में मिल चुकी थी। जो भी हो, भीलों की स्वतन्त्र भाषा, उनके विकास, राज्य और प्रभुत्व के अन्य अनेक अवशेषों के साथ द्रविड़ भाषा में अवशेष वर्तमान हैं। द्रविड़ आर्य सम्पर्क के कारण जिस भाषा का विकास हुआ उसमें अन्तिम ध्वनि पर बल देने के कारण शब्दों में व्यञ्जन द्वित्व की प्रवृत्ति का विकास हुआ जो आगे चलकर प्राकृत की प्रधान प्रवृत्ति हुई और अपभ्रंश के अन्त तक और फिर डिगल में भी बनी रही। द्रविड़ भाषा-भाषी और राजस्थान की भीली तथा भीली प्रभावित क्षेत्रों में यह बल की प्रवृत्ति आज भी उच्चारण में सुन पड़ती है। संस्कृत के अनेक शब्द इसी प्रवृत्ति से प्राकृत में परिवर्तित हुए। आर्य-द्रविड़ सम्पर्क से अनेक शब्द एक-दूसरे की भाषाओं में मिले। जो भीली द्रविड़ शब्द संस्कृत में गये उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं, ये वेद की भाषा में भी मिलते हैं।

अरुण, अरणि (सूर्य, अग्नि, चकमक का पत्थर-देखो राज० अरण्या पत्थर अथवा अरणी गांव और वहां मिलने वाले इस पत्थर के आधार पर यह नाम), कपि, कुमार (लुहार), कला, काल, कितव (ध्वरा),

३३-देखो-'लोकवात्ता' दिसम्बर १९४४ पृ० १४६ सु० कु० चा 'द्रविड़'।

कूट (राज० कूड छल),^{३४} कुगार, गरा, नाना, पुष्प, पुष्कर, पूजन, फल, बिल (छेद, छेदना, दो टुकड़े करना, देखो—ऊपर राज० वेरणो, (-वो) = चीरना), बीज, रात्रि, सायम्, अटवी, आडम्बर, खड्ग, तन्दुल (राज० ताँदरघा), मटची (ओला), वलक्ष (चन्द्रमा), वल्ली (साल का पेड़; देखो— राज० वल्ली, वलेंडी)^{३५} ।

कुछ अवशेषों से ज्ञात होता है कि राजस्थान पर भी आग्नेय (Austrie) कोल-मुन्डा जातियों का प्रभाव रहा है। राजस्थान के मध्य में भीलवाड़ा भीलों की उत्तर पूर्वी सीमा का द्योतक है। इसी के आस पास अनेक-ला अन्त वाले नामों की ग्रामीण बस्तियाँ हैं। यहीं से खैराड़ क्षेत्र की सीमा लगती है जहाँ की एक प्राचीन मीणा जाति बहुत प्रसिद्ध है। इसी प्रकार दक्षिण भीली प्रदेश में खैरवाड़ा ग्राम इनको दक्षिणी सीमा रही होगी। इससे ज्ञात होता है कि किसी समय भीलों और मुन्डों की अलग अलग सीमाएँ स्थापित हो गई होगी। खैराड़ी बोली की भी अपनी अलग विशेषताएँ हैं।^{३६} राजस्थानी की अनेक पिछड़ी जातियों में भील-भोमिया, कोली, ओड़ आदि जातियाँ हैं जो सम्भवतः आग्नेय परिवार की हैं। इनमें आज भी बीस तक गिनने की प्रथा है और बीस की संख्या के लिये 'कौड़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। भीलों द्वारा वृक्षों में प्रेतात्मा का आरोप और उसकी पूजा सम्भवतः आग्नेय-भील मिश्रण का संकेत है। खैराड़ की मीणा जाति का सम्बन्ध भी सम्भवतः आग्नेय से होगा। भीलों को आग्नेय परिवार से विकसित मानने में सबसे बड़ी भाषा सम्बन्धी कठिनाई यह है कि आग्नेय परिवार की भाषाएँ सर्व-प्रत्यय-प्रधान हैं, अर्थात् उनमें पुर-प्रत्यय, पर-प्रत्यय और अन्तर-प्रत्यय के द्वारा प्रधान रूप से वाक्य रचना होती है और उनके संयोग से व्याकरणिक सम्बन्ध सूचित किया जाता है।

३४-(१) कपट वात कूडी केलवी (६५)] पदमणि चउपई (१६४५)
कीउं कूड बादिल (५६१)

(२) राजस्थान से जो बंजारे मध्य युग में व्यापार लेकर योरप गये वे जिप्सी कहलाये। उनकी भाषा में अब भी राजस्थानी तत्व वर्तमान है। इंगलैंड के जिप्सियों की भाषा में इस 'कूड' शब्द का प्रयोग देखिये:—

Dui Romani chals	=	दुइ रोमनी छैला
Were bitcheni	=	थे भेजाने (=भेजे गये थे)
Pawdle the bori pani	=	पल्ले बड़े पानी (=पल्ले पार नदी के)
Plato for Koring	=	प्लाटो कूड़ने को (Koring=कूडना)
Lacho for choring	=	लच्छो चोरने को
The purse of a great lady	=	किसी बड़ी स्त्री का पर्स।

३५—'लोकवात्ता'—दिसम्बर १९४४ पृ० १४७-१४९—सु० कु० चा० 'द्रविड़' ।

३६—खैराड़ी की विशेषता और उसके व्याकरण के लिये देखो—मेकेलिस्टर कृत 'जयपुरी डायलेक्टस्' पृ० ५२ तथा १२६ ।

निषादों के पश्चात् मंगोल या किरात जाति ने ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी की ओर से भारत में प्रवेश किया। ये लोग पहले उत्तर और पूर्व में भारत की पर्वतमालाओं में फैले और धीरे धीरे पूरे उत्तर भारत-मध्यप्रदेश (गंगा की उपत्यका) मध्य भारत, राजस्थान और सिन्ध में जा बसे। आज ये लोग और इनकी भाषा केवल असम और हिमालय प्रान्त में ही सीमित रह गई है। राजस्थान के किराडू (किरात कूप), लौहारू (-डू) आदि इनकी प्राचीन बस्तियों के द्योतक हैं। किरात लोग यहाँ आकर अन्य जातियों में मिल गये और उनकी भाषा भी लुप्त हो गई। परन्तु राजस्थानी ध्वनि-संहति में किरात उच्चारण का प्रभाव अब भी कहीं कहीं दीख पड़ता है। किरात प्रवृत्ति निम्नलिखित स्थितियों में देखी जाती है:-

(१) समस्त राजस्थान ट-वर्गीय ध्वनियों का उच्चारण स्थान संस्कृत ट-वर्गीय ध्वनियों के समान मूर्द्धन्य न होकर वत्स्य है।

(२) च-वर्गीय स्पर्श-संचर्षो ध्वनियों का स्थान तालव्य न होकर दन्तमूलीय है, जो भीली से सर्वथा भिन्न है।

(३) सकार के स्थान पर जहाँ हकार होता है, वहाँ हकार के स्थान पर अल्प अकार, कहीं लोप और कहीं अनुस्वार का आगम देखा जाता है; जैसे--

(क) 'स' के स्थान पर 'ह' का लोप;

रामसींग > रामींग

(ख) 'स' के स्थान अल्प अकार सांस > हा ऽ, दिस > दि ऽ, वीस > वीऽ;

भँस > भँऽ

(ग) 'स' के स्थान पर अनुस्वार,

पास > पाँ

२. आर्य प्रभाव :

राजस्थान पर आर्य भाषा का प्रभाव आर्यों के आने के बहुत समय पश्चात् प्राकृत काल में आरम्भ हुआ। अतः राजस्थानी पर संस्कृत (वैदिक) का सीधा प्रभाव नहीं आया। ऐसा लगता है कि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण तक आर्य लोग राजस्थान की खोज नहीं कर पाये थे। वे इसके पश्चिम, उत्तर और पूर्व सीमाओं पर ही प्रसार कर रहे थे। ऋग्वेद की रचना के समय तो राजस्थान का अधिकतर भाग समुद्र में था। सर्वप्रथम आर्य प्रभाव उत्तर-पूर्वी राजस्थान में मत्स्य प्रदेश (आधुनिक जयपुर का एक भाग) में मध्य प्रदेश के सूरसेन प्रदेश से सम्पर्क स्थापित होने पर वहाँ की बोली का पड़ा। यह उस समय की प्राकृत (शौरसेनी) थी।

आर्यों का मुख्य प्रसार आर्यवर्त (गन्धार से लेकर विदेह तक) में हुआ, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार आर्य भाषा के तीन मोटे रूप थे—(१) उदीच्य (२) मध्य और (३) प्राच्य। इनके भीतर राजस्थान की कोई स्थिति नहीं है। इस वैदिक संस्कृत के आगे चल कर तीन प्राकृत रूप हुए—(१) उदीच्य

प्राकृत, (२) मध्य देशी प्राकृत और (३) प्राच्य प्राकृत। उदीच्य प्राकृत का प्राचीनतम लिखित रूप गान्धार प्रान्त के शाहबाज गढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों में मिलता है। (२) प्राच्य प्राकृत मागधी का एक रूप था।

राजस्थान के उत्तर पूर्व से उत्तर पश्चिम सीमाओं तक जो आर्य प्रभाव फैला रहा था उसमें प्राप्त शिलालेखों में वररु और सौरठ के शिलालेख भी हैं। इनमें वररु के शिलालेख की भाषा शुद्ध प्राकृत मानी गई है। परन्तु सौरठ के गिरनार वाले शिलालेख की भाषा वहाँ की बोली है। जिसमें कहीं कहीं प्राच्य प्राकृत के रूप आ गये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जहाँ जहाँ प्राकृत प्रभाव फैला था वहाँ अशोक के ये शिलालेख प्राच्य प्राकृत में खुदवाये थे, और जहाँ प्राकृत का प्रभाव नहीं था, वहाँ स्थानीय बोली में। इससे यह स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र का सम्पर्क उस समय तक पूर्व से हो चुका था। परन्तु भाषा (प्राच्य) का उतना प्रभाव नहीं पड़ा था। इसी कारण वहाँ की बोली और निकटतम प्राकृत का प्रयोग इस लेख में किया गया। सौरठ की इस प्राकृत और मध्य देश की प्राकृत में मौलिक भेद था। मारवाड़ और सौरठ—जो विविध जातियों के प्रसार और सम्पर्क के कारण निकट आ चुके थे—की बोलियों पर जिस प्राकृत का प्रभाव पड़ा वह न तो मध्य देशी प्राकृत थी और न प्राच्य प्राकृत ही। इन पर उदीच्य प्राकृत का प्रभाव था, जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा पंजाब से आया था। इसका कारण यह लगता है कि पश्चिम पंजाब, सिन्धु, सौरठ और मारवाड़ की अधिकतर जातियाँ उस समय तक द्रविड़भाषी अनार्य जातियाँ ही थीं। इन्होंने अपनी भाषा प्रवृत्ति के आधार पर ही आर्य भाषा (प्राकृत) को ग्रहण किया था। मारवाड़ी में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं जो इस प्रभाव की द्योतक हैं। उदाहरणार्थ गिरनार के शिलालेख की भाषा में 'त्म' और 'त्व' को 'त्प' के रूप में ग्रहण किया गया है :-

परिचजित्पा ८ सं० परित्यजित्वा

आरभित्पा ८ सं० आलभित्वा

यह उस बोली की एक विशेषता थी। इसी 'त्प' का आगे चलकर प्राकृत की सावर्ण्य प्रवृत्ति के कारण द्वित्व हो कर 'प्प' हुआ। इसी द्वित्व 'प्प' को उद्योतनसूरि (वि० सं० ८३५) ने 'अप्पा तुप्पा भरि रे अह पेच्छइ माए ततो' कहकर उस समय की मारवाड़ी प्रवृत्ति के रूप में उल्लेखित किया है। उदीच्य प्राकृत का प्रभाव इसमें एक अन्य उदाहरण से भी लक्षित होता है। वह है 'ल-कार' के स्थान पर 'र-कार' की प्रधानता जो 'आरभित्वा' और 'आलभित्वा' में दृष्टिगोचर होती है।^{३७} इसी प्रकार मारवाड़ी में 'ष्ट' के मूर्द्धन्य 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' की सीत्कार ध्वनि बड़ी स्पष्ट सुनाई पड़ती है, जो सम्भवतः आर्य प्रभाव से पहले की परम्परा है। गिरनार के शिलालेख में 'तिष्ठति' के प्राकृत रूप 'तिट्ठति' के स्थान पर उसका स्थानीय रूप 'तिस्टति' ही मिलता है। यह उस बोली की प्रबल प्रवृत्ति का द्योतक है। मारवाड़ी में आज भी स्पष्ट और कष्ट के मूर्द्धन्य ष के स्थान पर दन्त्य स् की सीत्कार ध्वनि बड़ी साफ सुन पड़ती है।

३७—उदीच्य प्राकृत में तीन मुख्य विशेषताएँ थीं—

- (क) ईरानी के समान इसमें 'र' ध्वनि की प्रधानता थी और 'ल' ध्वनि का प्रयोग नहीं होता था।
- (ख) महाप्राण 'घ', 'ध', 'भ' के अल्पप्राणत्व का लोप और केवल 'ह-कार' का प्रयोग।
- (ग) मध्यग 'ड' (ड़), 'ढ' (ढ़), क्रम से 'ल्' और 'ल्ह' हो जाते थे।

इसी लेख में अन्य कई रूप हैं जो प्राकृत प्रभाव से मुक्त हैं; जैसे—‘अस्ति’ के स्थान पर ‘अत्ति’ न होकर ‘अस्ति’ का ही प्रयोग, जो ‘सकार’ के प्रबल आग्रह और अस्तित्व का प्रमाण है। इससे एक और तथ्य निकल आता है कि इस बोली में मूर्द्धन्य ‘ष्’ का अभाव था। शहबाजगढ़ी और मानसेरा की लिपियों में जहाँ ‘ष’ का प्रयोग हुआ है वहाँ ऐसे स्थान पर इसमें ‘स्’ ही मिलता है—

गिरनार	—	सवे	पासंडा	वसेवू	ति ।
शहबाजगढ़ी	—	सत्रे	प्रषंड	वसेयु	— ।
मानसेरा	—	सत्र	पषंड	वसेयु	— ।
संस्कृत	—	सर्वे	पाषंडाः	वसेयु	इति । ^{३८}

इसी प्रकार तालव्य ष् का भी अभाव दीख पड़ता है और उसके स्थान पर भी दत्त ‘स्’ का ही प्रयोग मिलता है—

गिरनार	—सयमं	च	भावसुधि	च	इच्छति ।
शहबाजगढ़ी	—सयम		भवशुधि	च	इच्छति ।
मानसेरा	—सयम		भवशुधि	च	इच्छति ।
संस्कृत	—सयमं	(च)	भावशुद्धि	च	इच्छति ॥ ^{३९}

इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रान्त में प्राकृत के प्रभाव के समय स्थानीय बोलियों की प्रवृत्तियाँ अत्यधिक प्रबल थीं। कुछ अन्य और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) संयुक्त व्यंजन की अस्वीकृति :

(क)	च्च और च्छ :	उचावचछंदो—सं० उच्चावच्छन्दाः
		(हिन्दी—ऊँच नीच विचार से)
		उचावचरागो—सं० उच्चावचरागाः
		(हिन्दी—ऊँच नीच राग के)
(ख)	क्त	: दिढभतिता —सं० दृढभीकता
(ग)	द्ध	: भाव सुधिता —सं० भाव शुद्धिता

(२) ऋ के स्थान पर व्यञ्जन की प्रवृत्ति के अनुसार ‘अ’, ‘इ’ और ‘उ’ —

(क)	क् के साथ ‘अ’	—कतअता—सं० कृतज्ञता
(ख)	द के साथ ‘इ’	—दिढभतिता—सं० दृढभीकता
		एतारिसानि—सं० एतादृशानि
(ग)	प् के साथ ‘उ’	—धमपरिपुद्धा सं० धर्मपरिपृच्छा

३८—देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका में—ओम्—‘अशोक की धर्म लिपियाँ’ ।

३९—‘ष्’ तथा ‘ष्’ के स्थान पर ‘स्’ के उच्चारण के अन्य उदाहरण :

दसधाभिसितो	—सं० दशवर्षाभिसितः
धमानुसस्टी	—सं० धर्मानुशस्ति

(३) ज् और न्य् का उच्चारण ज्ञ् के समान

कतञ्जता	—सं० कृतञ्जता
जायामु	—सं० न्यायासिषुः
अञ्जानि	— सं० अन्यानि

(४) लम्बे संयुक्ताक्षरों वाले शब्दों में अक्षरलोपः कसंति, कासंति=करिष्यन्ति

इस प्रकार मारवाड़ी की रचना की आधार भूमि में पश्चिमी प्रभाव ही प्रबल है। मध्यदेशीय प्राकृत का प्रभाव तो मारवाड़ी पर बहुत काल पीछे आया^{४०}। पश्चिम पंजाब, सिन्ध, गुजरात और मारवाड़ के निवासी अधिकतर द्रविड़ अनार्य थे। धीरे-धीरे ये आर्य भाषा और आर्य सत्ता को स्वीकार करते रहे थे। ये लोग जब आर्य भाषा का प्रयोग करने लगे तो उनकी भाषा-प्रवृत्तियाँ इस मिश्रित आर्य भाषा में आ गईं। आगे चलकर इसी ने पश्चिमी राजस्थानी की पृष्ठभूमि तैयार की।

दक्षिण राजस्थान में मेवाड़ के एक बड़े भाग पर भीलों का आधिपत्य था। यही कारण है कि इस भाग की बोली की कई प्रवृत्तियाँ मारवाड़ी से मेल नहीं खाती। इस ओर के लोग भील, आभीर, गूजर आदि थे, जिन पर आर्य भाषा का प्रभाव मालवा की ओर से होकर आया। इसी कारण मेवाड़ी और मालवी में समानता होती है। शौरसेन से आने वाले आर्य प्रभाव ने पूर्व राजस्थानी और मालवा की ओर से आने वाले प्राकृत प्रभाव ने दक्षिण राजस्थानी की आधार भूमि प्रस्तुत की।

आर्य प्रसार के पश्चात् प्राकृत के प्रभाव से राजस्थानी की पृष्ठभूमि आरम्भ होने लगी। आर्य प्रभुत्व और प्रसार के कारण यद्यपि द्रविड़ दक्षिण की ओर उतर गये परन्तु उनमें से अनेक यहाँ भी बस रहे। इनके अनिश्चित अन्य अनेक जातियाँ जो सिन्धु तथा उत्तर पंजाब से खदेड़ी गईं वे भी राजस्थान में बस गईं। इन सब की बोलियों में आर्य भाषा के मिश्रण ने एक नवीन भाषा की रचना में योग दिया, जिससे राजस्थानी की पृष्ठभूमि आरम्भ होने लगी। प्राकृत की सावर्ण्य (Assimilation) ने आर्य भाषा और अनार्य शब्दों से राजस्थानी रूपान्तर करने में प्रधान रूप से काम किया। भील-द्रविड़ राज्यों की संस्कृति के अवशेष चारण-भाटों (देखें ऊपर द्रविड़ पुलवन,-राज० पडवो, बड़वो आदि) ने अपनी भाषा की रचना में इस प्रवृत्ति को नियमित रूप से अपनाया और आगे चलकर राजस्थानी में द्वित वर्णवाली डिगल शैली का विकास किया।

प्राकृत के लोक भाषा होने से उसका क्षेत्र व्यापक हो गया था। अनेक अनार्य जातियाँ इस आर्य भाषा का प्रयोग अपनी बोलियों का मिश्रण करके करती जा रही थीं। राजस्थान की अनेक उद्योग व्यवसायी जातियाँ आर्यों के साथ सम्पर्क स्थापित कर चुकी थीं। वे अपने उद्योग-व्यवसाय को लेकर आर्य परिवारों में प्रवेश करने लगी थीं। इन सभी जातियों के सम्पर्क, सम्बन्ध और मिश्रण तथा संयोग-व्यवहार से विकसित

४०—“मारवाड़-गुजरात की मौलिक या प्राथमिक बोली, जिसका प्राचीनतम निदर्शन अशोक की गिरनार लिपि में हमें मिलता है, मध्यदेश (शूरसेन अथवा अन्तर्वेद) की भाषा से नहीं निकली थी; पश्चिमी-पंजाब तथा सिन्ध में जो आर्य बोलियाँ स्थापित हुई थीं, उनसे ज्यादा सम्पर्कित थीं”। सु० कु० चा०-‘राजस्थानी भाषा’-पृ० ५५।

एक नवीन सामाजिक व्यवस्था में भाषा का पोषण हो रहा था। प्रचलित आर्य भाषा में नई-नई भाषा-प्रवृत्तियों का समावेश हो रहा था। तत्सम शब्दों के अनेक तद्भव रूपान्तर हो रहे थे, अनार्य शब्दों को (—क प्रत्यय लगाकर संस्कृत किया जा रहा था (राज० घुत्र ७ घोत्र ७ घोटड़ ७ सं० घोटकः) तो कहीं प्राकृत (राज० मिल ७ बिल ७ मिल ७ प्रा० भिल्ल)। शब्दों को नये रूप मिल रहे थे। एक ही शब्द का उच्चारण विविध जातियां अपनी ध्वनि-संहति और मुखसुख प्रवृत्ति के अनुसार कर रही थीं, जिससे एक ही शब्द के अनेक रूप होने लगे थे^{४१}। इस प्रकार इस आर्य-अनार्य सम्पर्क से प्राकृत भाषा के रूप में परिवर्तन स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। परिणामतः एक नवीन भाषा 'अपभ्रंश' का विकास हुआ।

राजस्थान पर प्राकृत प्रभाव ई० पू० की सहस्राब्दि से लेकर ई० पू० की अन्तिम शताब्दी तक बना रहा। इस समय तक यहां आर्य प्रभावपूर्ण रूप से फैल गये थे। इसके साथ ही अपभ्रंश का राजस्थानी रूप आरम्भ हो गया। इस रूप के विकास में सहयोग देने वाले थे भील (भिल्ल), गौभील। (गौभिल्ल ७ गोहिल्ल), आभीर (अभिल्ल), गुर्जर, तथा कोल, मुन्डा और किरातों की सन्तानें एवं चारण, पड़वा, और भाट आदि। आर्यों के साथ इन जातियों के निकट सम्पर्क के कारण इनकी बोलियां भी अधिक प्रभावशाली हो रही थीं। गोपालन के कार्य में कुशल होने के कारण महाभारत के समय तक आभीर तो चातुर्वर्ण्य में सम्मिलित कर ही लिये गये थे। सम्भवतः आभीर ही पहली जाति थी जिसने आर्य परिवार से सम्बन्ध स्थापित किया था। भीलों में गायें चराने वाले आर्यों द्वारा गौभिल्ल (गौ+भिल्ल) कहलाये और आर्य वर्ण में सम्मिलित होने पर आभीर (आर्य+भिल्ल=आ भिल्ल ७ आभील ७ आभीर) कहलाये। आभीर जाति के मूल उद्गम के विषय में जो अनेक कल्पनाएं की गई हैं वे सब निराधार हैं। वास्तव में परिवार में सम्मिलित किये गये भिल्ल ही आर्य+भिल्ल कहलाये। आर्य+भिल्ल का ही रूपान्तर आर्य-भिल्ल या आ-भिल्ल हुआ। आ-भील के 'ल्' का 'र्' में परिवर्तन होना इस मत को और भी अधिक पुष्ट कर देता है। ऊपर हम बता चुके हैं कि आर्य प्रसार के कारण आर्य भाषा संस्कृत के उदीच्य, मध्य और प्राच्य ये तीन रूप हो चुके थे। उत्तर में उदीच्य का प्रयोग होता था जिसमें 'ल्' का प्रयोग न होकर ईरानी के समान सर्वत्र 'र्' का ही प्रयोग होता था। आभीर शब्द में 'ल्' के स्थान पर 'र्' का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि उत्तर में ही आर्य-भील संयोग हुआ था। इस प्रकार आभीर भीलों की ही एक जाति थी। इन्हीं की पेशेवर जाति गाय-बकरी चराने के कारण गुजर (गौ+अज+चर=गौजर्, गुजर्, गुजर) कहलायी।

४१—(१) पंतजलि ने अपने महाभाष्य में (ई० पू० २००) इस उच्चारण की अनेकता की ओर संकेत किया है और 'गौ' शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप प्रस्तुत किये—“गौरित्यस्य शब्दस्या गावी गोणी गोपोत्त-लिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः”—देखो कीलहार्न द्वारा सम्पादित 'महाभाष्य-पृ० २०

(२) परवर्ती प्राकृत ग्रन्थों में तथा अनेक जैन सूत्रों में इन शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

(३) देखो, चण्ड कृत 'प्राकृत लक्षण' गौगार्वी २, १६

(४) देखो—सिद्धहेम व्याकरण 'गोणादयः—२, १७४।

३. भाषा के अनेक भेद और उसमें राजस्थान की स्थिति :

महाभारत के पश्चात् सामाजिक व्यवस्था विस्तृत हो गई थी। आर्य-अनार्य मिश्रण के कारण जातियाँ अपने कार्य और व्यवसाय के अनुसार महत्व प्राप्त करती जा रही थीं। विविध जातियाँ अपने अपने टोल में संगठित होकर अपनी अपनी बोलियों का प्रयोग करती थी। आभीरों के टोल तो महत्वपूर्ण हो ही गये थे परन्तु अभीरों ने भी आर्य भाषा प्राकृत के रूप को सर्वथा परिवर्तित कर दिया था, जो आगे चलकर अधिक महत्व प्राप्त कर लेने पर अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुई और उसमें साहित्य रचना होने लगी।

प्राकृत का अन्दर का ढाँचा किसी सीमा तक सर्वदेशीय बना रहा था, पर विविध बोलियों की विशेष प्रवृत्तियों के कारण छोटे मोटे जातिगत भेदों के साथ ही स्थानगत भेद हो गये थे। फिर भी इस ढाँचे पर विकसित एक सामान्य भाषा अवश्य बनो रही। यही प्रान्तीय भेदों के साथ सर्वमान्य थी। 'देश भाषा' का यह एक रूप था। उसमें ये प्रान्तीय रूप जुड़े जा रहे थे। प्राकृत से भिन्न हो कर वह देश भाषा के रूप में प्रचलित हुई। ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दी तक देशभाषा का यह रूप प्राकृत से पूर्णतः स्वतन्त्र हो चुका था। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में (ई० दूसरी शताब्दी) विविध वर्गों के पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत से सर्वथा भिन्न एक 'देशभाषा का भी उल्लेख किया है—

एवमेतत् विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा ।

अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा प्रकल्पनम् ॥

यह देश के भिन्न भागों में प्रान्तीय विशेषताओं के साथ बोली जाती थी। भरत ने इसी देश भाषा के सात रूपों का प्रान्तीकरण किया है—

- | | |
|----------------|--|
| १. बाह्लीका | —पश्चिमी पंजाब और उत्तरी पंजाब की बोली |
| २. शौरसेनी | —मध्य देश की बोली |
| ३. आवन्ती | —मालव प्रदेश की बोली |
| ४. अर्धमागधी | —कोसल की बोली |
| ५. मागधी | —मगध की बोली |
| ६. प्राच्य | —मगध से आगे के पूर्वी देशों की बोली |
| ७. दाक्षिणात्य | —गुजरात तथा दक्षिण राजस्थान की बोली (४२) |

ऊपर आर्य भाषा संस्कृत के उदीच्य मध्य देशीय और प्राच्य—इन तीन भेदों का उल्लेख किया गया है। इन्हीं के आधार पर प्राकृत के तीन भेदों का भी विकास हुआ, जिनमें अशोक की धर्म लिपियाँ उत्खनित हैं। इन्हीं तीन प्राकृतों से विकसित देश भाषा के आर्य प्रसार के साथ साथ—ये सात प्रान्तीय रूप हो गये। बाह्लीका उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर आदि देशों में बोली जाती थी, जिसका प्रभाव सिन्ध और कुछ कुछ उत्तर राजस्थान पर भी पड़ा था। इस भाषा का आधार उदीच्य ही

४२—मागध्यवन्तिजा प्राच्याशूरसेन्यर्धमागधी ।

बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्त्तिता ॥

था। इस समय मध्य प्रदेश के दो रूप हो गये—पहला शौरसेनी, जो मध्य देश की प्रधान भाषा थी, और दूसरा आबन्ती जो मालव की बोली के रूप में विकसित हुई। प्राच्य के इस समय तीन भेद हो गये—मागधी, अर्ध मागधी और प्राच्या (बंग देश तक)। राजस्थान का उस समय कोई स्वतन्त्र इकाई के रूप में विकास नहीं हुआ था। उसमें छोटे छोटे गणराज्य थे। परन्तु दक्षिणात्या से गुजरात और दक्षिण राजस्थान की बोलियों से ही अर्थ है। दक्षिणात्या से दक्षिण की द्रविड़ भाषा से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसने आर्यावर्त की भाषाओं का ही उल्लेख किया है। यहाँ तक कि आर्यावर्त की अन्य विभाषाओं के अन्तर्गत भी उसने द्रविड़ का उल्लेख किया है :—

शबराभीर चाण्डाल सचर द्रविड़ोड्जाः ।

हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥

इस प्रकार शबर, आभीर, चाण्डाल, चर, द्रविड़, ओड़ (ओड़) और हीन वनचर जातियों की बोलियों की सूचना हमें प्राप्त होती है। इसमें सभी जातियाँ राजस्थान में पायी जाती हैं। इनके बीच द्रविड़ का उल्लेख होने से उपयुक्त भील-द्रविड़ सम्पर्क सम्बन्ध के तथ्य की पुष्टि हो जाती है। उसके अनुसार शबरों के अतिरिक्त व्याध और कोयला बनाने वाली जातियाँ, लकड़ी के यन्त्रों पर जीविकोपार्जन करने वाले सुथार (बढ़ई) खाती (काष्ठक यान्त्रिक) आदि शाबरी बोलते थे।^{४३} वनचरों के साथ इनका सम्बन्ध होने के कारण ये लोग इनकी बोली 'वानौकसी' भी जानते थे। गाय, घोड़े, भेड़, बकरी और ऊँट चराने वाले (अभीर आदि) 'आभोरोक्ति' बोलते थे। शेष द्रविड़ आदि 'द्राविड़ी' बोलते थे।^{४४}

इन प्रमुख जातियों का उल्लेख कर देने के पश्चात् उन अनार्य जातियों का भी उल्लेख कर दिया है जिनमें से अधिकतर जातियाँ राजस्थान में बसी हुई थीं। उस समय राजस्थान में छोटे छोटे गणराज्य स्थापित हो चुके थे, जिनकी यही प्राकृत मिश्रित 'देशभाषा' थी। सम्भवतः यही समय था जब आर्य प्रभाव राजस्थान पर स्पष्ट रूप में पूर्ण प्रसारित हो चुका था। उत्तर राजस्थान का बहुत बड़ा भाग बाह्लोका से प्रभावित था। उत्तर पूर्व का भाग मत्स्य महाभारत के समय में ही आर्य प्रभाव में आ चुका था। इस समय तक पूर्वी राजस्थान का बहुत बड़ा भाग 'शौरसेनी' से प्रभावित था। यहाँ किसी 'राजन्य जनपद' (क्षत्रप-जनपदसी) का शासन था। दक्षिण राजस्थान में आर्य प्रभाव मालव की ओर से आया। ई० पू०

४३—शाबरी का कुछ राजस्थानी रूप : शाबर लोग मन्त्र फूँकने आदि में बहुत प्रसिद्ध थे। इनके कुछ मन्त्र शारंगधर पद्धति में शारंगधर ने सुरक्षित किये थे। उनमें से सिंह से रक्षा करने का यह मन्त्र देखिये—

'नन्दायणु पुत्त सायरिऊ' पहारु मोरी रक्षा । कुक्कर जिम पुंछी दुल्लावइ ।

उडहइ पुंछी पडहइ मुहि । जाह रे जाह । आठ सांकला करि उर बंधाउं ।

बाध बाधिणि कऊ मुह बंधउ' । कलियाखिणि की दुहाई । महादेव की दुहाई ।

महादेव की पूजा पाई । टालहि जई आणिली । विष देहि ।'

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका ; भाग २, अंक-१ में पृ० १७ पर 'गुलेरी' द्वारा प्रकाशित

४४—अज्ञारकास्याधानां काष्ठयन्त्रो

की दूसरी शताब्दी में 'शिवजनपद' की स्थापना हुई जिसकी राजधानी चित्तौड़ के पास 'मध्यमिका नगरी' (अब नगरी के नाम से प्रसिद्ध) थी। इसके सिक्के पर 'मभिभिकम्ब शिवजन पदस' लिखा मिलता है।^{४६} यह आर्य भाषा ही है। इसमें मध्यग-अ- (मभिभिका 7 मध्यमिका में 'ध्य' का 'भ' के स्थान पर 'इ' उच्चारण करने की प्रवृत्ति आज तक वर्तमान है। इसके विपरीत मारवाड़ी में शब्द के आरंभिक अ-कार का इ-कार होता है।

४. देश-भाषा की विविध प्रवृत्तियों में राजस्थानी प्रवृत्तियाँ :

भरत ने इसी देश भाषा की प्रान्तीय विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसके अनुसार गंगा और सागर के मध्य की भाषा (मध्य देश तथा पूर्व में) ए-कार बहुला है। विन्ध्याचल और सागर के बीच वाले प्रदेशों की भाषा न-कार बहुला है। सुराष्ट्र, अवन्ति और बेत्रवती (बेतवा) के उत्तर के देशों की भाषा में च-कार की प्रधानता है। चर्मण्वती (चम्बल) और उसके पार आबू तक के प्रान्तों में ट-कार की बहुलता है। और हिमालय, सिन्धु और सौवीर के बीच अर्थात् शूरसेन, हिमालय का पहाड़ी भाग तथा उत्तर राजस्थान से लेकर सिन्धु तक के देशों में उ-कार की बहुलता है। उक्त कथन में राजस्थान में तीन भाषा स्पष्ट रूप में आ गई हैं।

- (१) सौराष्ट्र से अवन्ति तक च-कार की विशेषता
- (२) चम्बल से आबू के बीच ट-कार की विशेषता, और
- (३) उत्तर राजस्थान में उ-कार की बहुलता

स्पष्ट है कि दक्षिण राजस्थान में भीली-किरात-द्रविड़ प्रभाव के कारण च-वर्गीय तथा ट-वर्गीय ध्वनियों में उच्चारण आर्य ध्वनियों से भिन्न है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हम जो यह बतला चुके हैं कि उकारान्त प्रवृत्ति भीली, द्रविड़ तथा 'आभीरोक्ति' की प्रधान विशेषता थी। मथुरा से लेकर राजस्थान और गुजरात तक वही उकारान्त आज ओकारान्त हो गया है और इसका उकारान्त स्वरूप अपभ्रंश से प्रभावित तेलुगु में प्रबल रूप में वर्तमान है।

अपभ्रंश में उकारान्त बहुलता के साथ व्याकरण के नपुंसक के भेद को हटा देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। इसी कारण उसमें कहीं नपुंसक का प्रयोग होता था और कहीं नहीं। इस प्रवृत्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। इसमें एक वर्ग ऐसा था जो नपुंसक के भेद को स्वीकार करता था। यह वर्ग विशेष रूप में गुजरात-सौराष्ट्र वर्ग था, जिसका कुछ प्रभाव मारवाड़ पर भी था। दूसरा शेष राजस्थान का था जो नपुंसक के भेद को हटा रहा था, इसलिये अनुस्वार का प्रयोग नहीं करता था। आगे चलकर जब पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से गुजराती अलग हुई तो गुजराती में नपुंसक सुरक्षित रह गया और राजस्थानी से लुप्त हो गया।

४५-४६-देखो-नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ३, पृ० ३३४ पर ओभा० का लेख।

५. अपभ्रंश में राजस्थानी के मूलतत्व :

आभीरोक्ति से विकसित होकर अपभ्रंश देश की प्रधान भाषा हुई और उसमें साहित्य रचना होने लगी। अपभ्रंश के विकास और प्रसार का प्रधान श्रेय आभीरों तथा गुर्जरों को दिया गया है। आभीरों तथा गुर्जरों का प्रसार उत्तर में सिन्धु और सरस्वती के तट से^{४७} तथा सपादलक्ष^{४८} की ओर से गुजरात और राजस्थान में हुआ। पूर्व^{४९} तथा दक्षिण^{५०} तक उनके राज्य भी स्थापित थे। राजशेखर का 'पश्चिमेन अपभ्रंशिनः कवयः' इस तथ्य का प्रमाण है कि गुजरात और राजस्थान में अपभ्रंश काव्य का चरम विकास हुआ। अपभ्रंश काव्य के प्राप्त ग्रन्थों के द्वारा इस प्रमाण की पुष्टि भी होती है। इसी पश्चिमी या शौरसेन अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ। राजस्थानी का प्राचीनतम रूप पुरानी राजस्थानी के ग्रन्थों में सुरक्षित है। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी^{५१} को पुरानी हिन्दी भी कहा है।^{५२} इसका कारण भी यही है कि हिन्दी के वर्तमान रूप की रचना में पुरानी राजस्थानी का प्रबल आधार है। इसके कुछ उदाहरण ऊपर दिये भी जा चुके हैं।

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में एक अध्याय अपभ्रंश व्याकरण का भी दिया है। यहाँ उसी व्याकरण से कुछ ऐसे तत्त्वों को प्रस्तुत किया जा रहा है जो राजस्थानी के रचना-विकास के मूल में प्राप्त होते हैं (कोष्ठकों में सूत्र-संख्या दी गई है) —

४७—विलसन ने 'इन्डियन कास्ट' में आभीरों के विषय में लिखा है—'आरम्भ में उल्लेख महाभारत में शूद्र के साथ मिलता है, जो सिन्ध के तट पर निवास करते थे।…… तोलोमी (Ptolemy) ने भी 'आभीरों' (आभीरों) को स्वीकृत किया है, जो अब भी आभीरों के सिन्ध, कच्छ और काठियावाड़ में मिलते हैं और ग्वालों तथा खेती का कार्य करते हैं।'

रामायण, विष्णुपुराण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में द्रविड़, पुण्ड्र, शबर, बर्बर, यवन, गर्ग आदि के साथ आभीरों का भी उल्लेख मिलता है।

४८—(१) देखो—ग्रियर्सन का भाषा सर्वे जिल्द ९, भाग २, पृ० २ तथा ३२३.

(२) देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९११ में डा० भण्डारकर का लेख 'फोरेन एलिमेन्ट इन दी हिन्दू पोप्युलेशन'—पृ० १६.

(३) देखो—आर० ई० ए-थोवन कृत 'ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स् आफ बोम्बे' भूमिका पृ० २१.

४९—देखो—समुद्रगुप्त का इलाहाबाद का लेख।

५०—देखो—संवत् ३६७ का नासिक गुफा का शिलालेख जिसमें राजाशिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन अहीर का उल्लेख है।

५१—देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९१४ के अंकों में तिस्सेतोरि कृत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी पर 'नोट्स'।

५२—देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, अंक ४ में 'गुलेरी' लेख 'पुरानी हिन्दी'।

(१) विभक्तियां :

(क) राजस्थानी में प्रथमा और सम्बोधन में एक वचन पुल्लिङ्ग आकारान्त तथा स्त्रीलिङ्ग आकारान्त संज्ञाएं अपभ्रंश के समान (३३०) ही रहती हैं। परन्तु द्वितीया एक वचन पुल्लिङ्ग में अपभ्रंश के अकारान्त (३३१) का आकारान्त हो गया है। अपभ्रंश तृतीया के -ए (३३३), अनुस्वार तथा -ण (३४२ तथा ३४३), -हि (३३३, ३४७) राजस्थानी काव्य में सुरक्षित रहे हैं। अप० पंचमी के -हे, -हु (३३६, -३४१, ३४२) तथा -हुं (-हुँ (३३७, ३४१) काव्य में तो सुरक्षित हैं, पर बोलियों में -हु के स्थान पर -हुं का ही प्रयोग होने लगा है। षष्ठी के -हं (३३६, ३४०), -हे (३५०) और -हु का प्रयोग केवल काव्य में ही सीमित है। सप्तमी -इ, -ए (३३४), -हि (३४१, ३४२), -हुं (३४०), -हि (३४७) काव्य में प्रयुक्त होते रहे हैं। पर -इ का प्रयोग काव्य में छन्द-बन्धन के कारण -ए के स्थान पर ही हुआ। बोलियों में केवल -ए ही पाया जाता है। -ए का बहुवचन बोलियों में -आं हो गया है। सम्बोधन पुल्लिङ्ग -हो (३४६) का प्रयोग बोलियों में भी होता है, परन्तु स्त्रीलिङ्ग-हो (३४६) का प्रयोग केवल आदर सूचनार्थ ही होता है। स्त्रीलिङ्ग -ए (३३०) का प्रयोग सर्वत्र होता आया है।

(२) सर्वनाम :

(क) निश्चयवाचक : अपभ्रंश एहो (३६२) के स्थान पर राजस्थानी में यो (ओ); एइ (३६३) के स्थान पर ई; एह (३६२) के स्थान पर या (आ); ओइ (३६४) के स्थान पर ओ, वो; आय (३६५) के स्थान पर आ; आयइ (३६५) के स्थान पर ई; जासु-कासु (३५८) तथा जहे-कहे (३५८) के स्थान पर जी-कीं हो गये हैं।

(ख) प्रश्नवाचक : अपभ्रंश 'काइ' और 'कवण' (३६७) पुरानी राजस्थानी में तो ग्रहण किये गये हैं, परन्तु उसके पश्चात् 'काइ' तो मूल रूप में ही बोलियों तक आया है और 'कवण' का विकसित रूप 'कुरण' (कूण, कौण) प्रयुक्त होने लगा।

(ग) पुरुष वाचक : अपभ्रंश 'मइ' (३७७) राजस्थानी काव्य में 'मि' हो गया और 'मइ' तथा 'मि' दोनों का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार अपभ्रंश अम्हे-अम्हइ (३७६) का 'म्हे'; 'हउ' (३७५) का 'हुं' तथा मूल रूप 'हउ' भी काव्य में व्यवहृत होने लगे। इनमें 'म्हे' तो बोलियों तक चला आया पर 'हु' की परम्परा काव्य तक ही सीमित रही। हुं के स्थान पर 'म्हु' का बोलियों में विकास हुआ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष 'तुहु' (३६८) का 'थू' 'तुम्हे'-तुम्हइ' (३६६) का 'थां-थें'; 'तइ' (३७०) का 'थइ'; 'तउ' (३७२) का 'थउ' रूप बोलियों में विकसित हुए।

(३) क्रिया :

(क) राजस्थानी में अपभ्रंश वर्तमान के प्रत्यय -उं (३८५), -हुं (३८६), -हि (३८३), -हु (३८४), -हि (३८२) काव्य में तो प्रयुक्त होते रहे हैं, परन्तु बोलियों में -उं का -उ, -हुं का -आं, -हि तथा -हि का -ए, और -हु का -ओ हो गया है।

(ख) आज्ञार्थ में अपभ्रंश -इ, -उ, -ए (३८७) काव्य में सुरक्षित हैं, परन्तु बोलियों में 'सबके स्थान पर -अ का प्रयोग होता है।

(ग) भविष्यार्थ में अपभ्रंश 'स्य' तथा 'स' (३८८) दोनों का प्रयोग काव्य में होता है। इस प्रकार 'होस्यइ' और 'होसउ' दोनों रूप मिलते हैं। इसी के अन्य रूप 'होइस्यइ' (< भविष्यति), 'होइसइ' 'होसिइ', 'होइहि' (होइइ), 'होहिइ' (३८८), 'होवइ', 'होअइ', 'हुवइ', 'ह्वँ', 'ह्वइ' आदि रूप भी प्रचलित हैं।

(४) रूप परिवर्तन :

(क) अपभ्रंश में जहाँ अनादि 'म्' सानुनासिक 'व्' हो जाता है (३६७), वहाँ राजस्थानी में मध्यग -म्-एवं -व्- दोनों का प्रयोग हुआ है, परन्तु अन्त्य -म् का परिवर्तित अनुनासिक -व् आनुनासिक रूप में -उं हो गया है।

(ख) अन्त्य व्यंजन से संयुक्त 'र्' जहाँ अपभ्रंश में विकल्प से लोप होता है (३६८) वहाँ राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है।

(ग) अपभ्रंश 'जेहु', 'तेहु', 'एहु' (४०२) राजस्थानी में काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इनके विकसित रूप 'जेहो', 'तेहो', 'केहो', 'एहो' भी मिलते हैं। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से ये रूप गुजराती में चले गये। राजस्थानी में इनके स्थान पर अपभ्रंश 'जइस', 'तइस', 'कइस', अइस (४०३) से विकसित रूप 'जहसउ' (>जिसो, जसो, जस्यो), 'तइसउ' (>तिसो, तसो, तस्यो), 'कइसइ' (किसो, कसो, कस्यो) और 'अइसउ' (इसो, असो, अस्यो) रूप प्रयुक्त होते हैं।

(घ) अपभ्रंश के 'जेवडु-तेवडु' (४०७) के 'जेवडो-तेवडो' तथा एवडु-कवेडु' (४०८) के 'एवडो' केवडो' रूप पुरानी राजस्थानी तथा काव्य में बराबर प्रयुक्त होते रहे हैं। मारवाड़ी में इनके रूप क्रमशः 'जेडो', 'तेडो', 'एडो', 'केडो' विकसित हुए हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश 'जेत्तुलो-तेत्तुलो' (४०७) के 'जितरो-तितरो, वितरो (जतरो-ततरो-वतरो) तथा एत्तुलो-केत्तुलो (४०८) के 'इतरो (अतरो)-कितरो (कतरो) राजस्थानी रूप विकसित हुए। आधुनिक मारवाड़ी में इनके रूप क्रमशः 'जितो' तितो' (वित्तो), 'इत्तो' 'कित्तो' हो गये।

(५) स्वार्थिक प्रत्यय :

संज्ञा में लगने वाले अपभ्रंश स्वार्थिक प्रत्यय 'अ-डड-डुल्ल-डो-डा' (४२६, ४३०, ४३१, ४३२) के राजस्थानी में डो, लो, डी, ली, ड्यो, ल्यो, डिओ (डियो), लिओ (लियो) रूप मिलते हैं।

(६) अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण :

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण कब हुआ। एक भाषा के भीतर ही उससे विकसित होने वाली भाषा के बीज प्रस्फुरित हो जाते हैं और धीरे धीरे वह भाषा अपनी नवीन भाषा को पोषित करती हुई लुप्त हो जाती है। राजस्थानी की भी यही स्थिति देख पड़ती है। अपभ्रंश ज्यों ज्यों लोक व्यवहार से हटती गई त्यों त्यों राजस्थानी के नव विकसित अंकुर भाषा में स्थान प्राप्त करते रहे। इस प्रकार अपभ्रंश के अन्तिम युग की परिवर्तित भाषा में प्राप्त साहित्य में राजस्थानी भाषा के आरम्भिक रूप देख पड़ते हैं। ये रूप सम्भवतः विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में

आरम्भ हो गये होंगे, जब अपभ्रंश के क्षेत्र में प्रान्तीय विशेषताएं अंकुरित होने लगी थीं। इसका प्रमाण वि० सं० ८३५ में उद्योतनसूरि द्वारा रचित 'कुवलयमाला' कथा में संग्रहित प्रान्तीय रूपों से मिलता है।^{५४} परन्तु राजस्थानी का अधिक स्पष्ट रूप जिनदत्तसूरि कृत 'उपदेसरसायनसार' में मिलता है।^{५५}

अपभ्रंश से राजस्थानी के स्वरूप विकास की प्रधान प्रवृत्ति है। अपभ्रंश के द्वित्वर्णवाले शब्दों की अस्वीकृति और उनके स्थान पर नव विकसित रूपों की स्थापना। यह प्रवृत्ति निम्नलिखित रूपों में पायी जाती है :—

५४—शौरसेन अपभ्रंश से प्रभावित क्षेत्र में विकसित इन रूपों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. मध्यदेश—णय-नीति-सन्धि-विग्गह-पडुए बहु जंपि रे य पयतीए ।
'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपि रे मरु देसे य ॥
२. अन्तर्वेद—कवि रे पिगल नयणे भोजणकहमे तद् विण्णवा वारे ।
'कित्तो किम्मो जिअ' जंपि रे य अंतवेते य ॥
३. टक्क—दक्षिण दाण पोरुषा विण्णारा दया विवज्जिय सरीरे ।
'एहं तेहं' चवते टक्के उगा पेच्छइ कुमारो ॥
४. सिन्धु—सललितमिदु—मंदपए गंधव पिए सदेस गय चित्तो ।
'चउडय मे' भणि रे सुहए अह सेन्धवे दिट्ठे ॥
५. मरुदेस—बंके जडे य जडुे बहु मोई कठिण-पीण-थूणागे ।
'अप्पा तुप्पा' भणि रे अह पेच्छइ मरुए तत्तो ॥
६. गुर्जर—घय लोलित पुट्ठगे धम्मपरे सन्धि-विग्गह णिउगो ।
'णउरे मल्लउ' भणि रे अह पेच्छइ गुज्जरे अवररे ॥
७. लाट—णहाउलित्त-विलित्ते कय सीमंते सुसोहिव सुगत्ते ।
'आहम्ह काइ' तुम्ह मित्तु' भणि रे अह पेच्छइ लाडे ॥
८. मालव—तरणु-साम-मडह देहे कोवणाए मारण-जीविणो रोह् ।
'भाउअ भइणी तुम्हे' भणि रे अह मालवे दिट्ठे ॥

विशेष के लिये देखो—'अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ६१-६४ ।

५५—निम्नलिखित उदाहरण देखिये—

बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहि । तेवि समाण धम्म धरि विज्जहि ॥
विसम धम्म-धरि जइ विवाहइ । हो सम्मुत्तु सु निच्छइ वाहइ ॥
थोडइ धणि संसारइ कज्जइ । साइज्जइ सब्बइ सवज्जइ ॥
विहि धम्मत्थि अत्थु विविज्जइ । जेणु सु अप्पु निब्बुइ निज्जइ ॥
'उपदेसरसायनसार'—पृ० ६३-६४

- (क) अपभ्रंश के द्वित्व्यंजन का लोप और उसके पूर्वस्थित स्वर का दीर्घीकरणः
 अप० अज्ज ७ रा० आज; अप० कज्ज (४०६, ३) ७ रा० काज;
 अप० भग्ग ७ रा० भाग; अप० घल्लइ (३३४, १) ७ रा० घालइ;
 अप० अप्पणउ (३३७, १) ७ रा० आपणउ; अप० जज्जरउ
 रा० जोजरउ; अप० वग्ग (३३०, ४) > रा० वाग ।
- (ख) अप० के द्वित्व्यंजन का लोप और उसके परवर्ती व्यंजन-स्थित स्वर का दीर्घीकरण :
 अप० ढोल्ल (३३०, १) ७ अप० ढोलो; अप० वहिल्ल (४१२) रा० वहिलो;
 अप० हेल्लि (४२२) रा० हेली अप० अप्पणउ (३३७, १) > रा० अपाणो ।
- (ग) अप० के द्वित्व व्यंजन का लोप और उसके पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर में कोई परिवर्तन नहीं
 अप० नच्चाविउ (४२०, २,) रा० नचाविउ; अप० छोल्ल (३६५) >
 रा० छोल; अप० भलक्क (३६५) > रा० भलक; अप० खुडुक्कइ (३६५) >
 रा० खुडुकइ; अप० विट्टाल (४२२) > रा० विटाल ।
- (घ) अप० द्वित्व्यंजन का लोप और उसके पूर्ववर्ती वर्ण का नासिक्यीकरणः—
 खग्ग (३३०, ४०१) > रा० खंग; अप० पहुच्चइ (४१६, १) > रा० पहुंचइ ।
- (च) अप० के उन द्वित्व्यंजन युक्त शब्दों की अस्वीकृति जिनके, उपर्युक्त नियमों के अनुसार
 शब्दार्थ विपर्यय होता हो । ऐसे शब्दों के स्थान पर संस्कृत तत्सम् या उनके राजस्थानी
 तद्भव रूपों की स्थापना :
 इस प्रकार के शब्दों में 'धम्म' से 'धाम' न होकर 'धर्म' अथवा 'धरम' शब्दों को मान्यता
 प्राप्त हुई । इसी प्रकार 'कम्म' के प्रा० 'कम्म' का 'काम' न होकर 'कर्म' या 'करम' ।
 स्वर्ग के प्रा० 'सग्ग' का 'साग' न होकर 'स्वर्ग' वा 'सरग' आदि ।

अन्य प्रवृत्तियों में आदि 'ण' और मध्यम 'ण' का लोप; षष्ठी में 'का-' की - के तथा 'रा-री-रे'
 का विकास; 'हन्तो' विभक्ति के विविध रूपों का सभी कारकों में प्रयोग और शब्द के प्रथम वर्ण के 'अकार'
 के स्थान पर 'इ-कार' की मान्यता उल्लेखनीय हैं, जिनसे अपभ्रंश और राजस्थानी पृथकता स्थापित करने
 में सहायता प्राप्त हो सकती है ।

७. राजस्थानी की ङिगल शैली :

ङिगल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ के विषय में पिछले वर्षों में अनेक विवाद चले । डा० तिस्सेतोरी
 से लेकर (१९१४) डा० मेनारिया (१९५०) तक अनेक कल्पनाएँ 'गवारू' से आरम्भ हुईं और 'डींग
 हांकने' में समाप्त हुई । डा० तिस्सेतोरी ने ङिगल का अर्थ अनियमित तथा गंवारू बतलाया; डा० हरप्रसाद
 शास्त्री ने इसकी व्युत्पत्ति 'ङंगल' से मानी, तो किसी ने ङिगल में 'डिम्म+गल' की सन्धि का आरोप
 कर यह बतलाया कि जिसमें गले से डमरू आवाज निकलती हो वह 'ङिगल' है । इसी प्रकार 'डिम्म+गल =

डिगल, डिग्गी + गल = डिगल' आदि अनेक अनुमान प्रकाशित हुए^{५६}। इस सम्बन्ध में सबसे अन्तिम आविष्कार डा० मेनारिया ने 'डींग मारने का किया'। उनका कथन है कि डिगल की व्युत्पत्ति 'डींग मारने से' है, क्योंकि इसी भाषा में अत्युक्ति और अनुरंजनापूर्ण साहित्य मिलता है^{५७}। इस व्युत्पत्ति की अत्यधिक टीका होने पर डा० मेनारिया ने इस कल्पना को और आगे की खींचा और अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में 'डींग' शब्द के साथ 'ल्' प्रत्यय जोड़कर उसको 'डीगल' बनाया तथा 'डिगल' और 'डींगल' में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'ड्' के साथ आने वाले ह्रस्व इ-कार और दीर्घ ई-कार की बड़ी विचित्र व्याख्या करते हुए दीर्घ ईकार का ह्रस्व इ-कार कर देने का वर्णन किया है।^{५८}

डिगल के विषय में मैंने एक अलग लेख प्रकाशित कर दिया है^{५९} और यहां ऊपर भी बतला चुका हूँ कि यह चारण-भाट आदि राज्याश्रित कवियों के काव्य की एक भाषा शैली है। यह भी बतलाया जा चुका है कि प्राचीन द्रविड़ शब्द 'पुल्वन' और राजस्थानी पड़वो-बड़वों अपने मूल में एक ही रूप और एक ही अर्थ रखते हैं। इस प्रकार ये लोग राजस्थान में आर्य प्रभाव के पूर्व किसी राजकीय परम्परा से सम्बन्धित हैं। प्राचीन भीली द्रविड़ शब्द के 'पुल्वन' के समान ही 'डिगल' शब्द भी पड़वो, बड़वों, भाट ढाढी आदि विरूद-गायक जातियों में से किसी एक जाति के लिये प्रयुक्त होता था। प्राचीन संस्कृत कोषों में इस शब्द का 'डिगर' रूप भी मिलता है। 'डिगर' का अर्थ मोनियर वीलियम्स ने अपने संस्कृत कोष में पृ० ४३० पर अमरसिंह, हलायुध, हेमचन्द्र आदि के कोषों के आधार पर घूर्त्त, दास, सेवक, गाने बजाने वाला दिया है। हलायुध के कोष में यह शब्द मिलता है और उसने यही अर्थ दिया है। डिगल में 'ल्' के स्थान पर संस्कृत कोष में 'र' का प्रयोग ऊपर उल्लिखित उदीच्य संस्कृत की प्रवृत्ति है। अतः डिगल और डिगर एक ही अर्थ के द्योतक हैं और चारण-भाटों के काव्य की एक विकसित परम्परा से सम्बद्ध हैं।

ऊपर हम यह भी बता चुके हैं कि राजस्थान में आर्य भाषा का प्रभाव प्राकृत काल में आरम्भ हुआ था। उस समय दो भाषाओं के संयोग और विलीनीकरण का कार्य चल रहा था। अनार्य शब्दों का आर्यीकरण हो रहा था। द्वित्वर्ण की प्रवृत्ति इसमें प्रधान रूप से सक्रिय थी, जिसको चारण-भाटों ने अपनी काव्य-भाषा में नियमित रूप से ग्रहण किया। यही प्रवृत्ति डिगल की परम्परा में एक प्रधान विशेषता हो गई। इसी प्रकार उस काल की अन्य विशेषताएं भी इस काव्य भाषा में विशेष स्थान प्राप्त कर गईं। जिससे राजस्थानी की यह भाषा-शैली विकसित हुई और वीर-गाथा काव्य के लिये मान्य होकर डिगल कहलायी। डिगल की भाषागत विशेषताएं नीचे दी जाती हैं :—

५६ इन सभी प्रकार के पतों का विस्तार पूर्वक उल्लेख श्री नरोत्तमदास स्वामी ने अपने एक निबन्ध में किया जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के किसी अंक में प्रकाशित है-वह अंक अब अप्राप्य है।

५७ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा'।

५८ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृ २०-२१

५९ देखो—हिन्दी अनुशीलन वर्ष ८, अंक ३, पृ० ९० पर मेरा लेख 'डिगल भाषा'।

- (क) डिंगल भाषा की प्रमुख विशेषता उसके शब्द चयन की है, जिसमें द्वितवर्ण की प्रधानता रहती है। ये द्वितवर्ण दो प्रकार के होते हैं; एक तो प्राकृत और अपभ्रंश से आये हुए रूपों के आधार पर स्वीकृत; जैसे-मग्ग, खग्ग आदि; दूसरे अनुकरण पर बनाये हुए; जैसे सहज्जि, उद्धल्लि, मेल्लि आदि।
- (ख) अनुनासिकता की प्रधानता। डिंगल में पांचों अनुनासिकों का प्रयोग मान्य है परन्तु उच्चारण में 'ञ' का उच्चारण नहीं होता और आदि 'ण्' का बहुत कम प्रयोग होता है।
- (ग) युद्ध-वर्णन में दृश्य का साक्षात्कार कराने के लिये सानुप्रासता, सानुनासिकता और ध्वनि प्रतीकों का प्रयोग; जैसे—सानुप्रासता: चलचलिय, मलमलिय, दलदलिय आदि; सानुनासिकता। चमंकि, टमंकि; ध्वनि-प्रतीकत : ढमढमइ ढोल नीसाण.....।
- (घ) भाषा में युद्ध-जनित कर्कशता लाने के लिये ट-वर्गीय ध्वनियों का प्रयोग।
- (ङ) व्याकरण के रूपों में प्राचीन सर्वनामों 'अम्हि', 'अम्हा', 'अम्हीणो', 'तुम्ह', 'तुम्हा' आदि; तथा विभक्तियों में 'ह', 'हंदा', 'तणउ', 'तणहं', 'चा-ची आदि; और क्रिया में इय, आदि प्रत्ययों वाली क्रियाओं का प्रयोग।
